ग्रन्थ-संख्या—३८

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, प्रयाग

तृतीय संस्करण
सं० २००७ वि०
मूल्य ३)

मुद्रक
कायस्थ पाठशाला प्रेस, प्रयाग

विषय-सूचना

भूमिका

मेरी यह पुस्तक प्रसादजी के संबध में लिखे हुए निबंधों का सग्रह है। ये निबध भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गए थे और इनमे से कुछ तो प्रायः बीस वर्ष पूर्व के हैं। उस समय मैं साहित्य-क्षेत्र मे आया ही आया था, इसलिए एक आरंभिक लेखक का कच्चापन भी, संभव है, इनमें से कुछ निबंधों में मिले। मैंने दो-चार वाक्य इधर-उधर घटा-बढ़ा देने के अतिरिक्त शेष सब ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। इसमें पाठक मेरे समीक्षा संबंधी उद्योगों को मूल रूप में ही देख सकेंगे। इन निबंधों को लिखते समय इन्हे किसी क्रमबद्ध पुस्तक का आकार देने की कल्पना मेरे सामने नहीं थी। इसलिए पुस्तक-रूप में ये निबंध कुछ अपूर्ण भी मालूम दे, तो आश्चर्य नहीं (यद्यपि इनका एक सिलसिला स्थापित करने की चेष्टा अवश्य की गई है)। प्रसादजी के संपूर्ण साहित्य का हवाला देना इन निबंधों में मेरा उद्देश्य नहीं रहा। इनमें तो प्रसादजी की मनोभावना और चिन्ताधारा के विकास तथा उन्हे कलात्मक स्वरूप देने के उनके प्रयासों की ही चर्चा की गई है। कहीं-कहीं यह चर्चा आनुषंगिक रूप में ही हो पाई है और कहीं-कहीं तो संकेतमात्र बनकर रह गई है। मै कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूँ, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं (यदि ऐसा होता, तो यह पुस्तक अब की अपेक्षा दूने-तिगुने आकार की हो जाती)। मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंतः-प्रेरणा का अनुसंधान करने में ही व्यस्त हूँ। इसी के साथ-साथ संक्षेप में बाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अंत में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ। फलत. मुझे विस्तार में जाने की आदत नहीं है। रचयिता की चुनी हुई विशेषताओं और प्रवृत्तियों का यथासंभव थोड़े में उल्लेख कर देना मैं अपने लिए पर्याप्त समझता हूँ। इसलिए इंगित-शैली से काम लेता हूँ। हाँ, यह चेष्टा मेरी अवश्य रहती है कि विवेचित व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप-विषयक कोई बात छूटने न पावे। इतना ही कर सकना मैं अपने लिए बहुत मानता हूँ। इससे अधिक की शायद मुझमे

शक्ति भी नहीं है। अपनी इस असमर्थता का इजहार पाठकों के संमुख इसलिए करना पड़ रहा है कि वे इस पुस्तक में यत्र-तत्र सूत्र रूप से कही गई बातों को भी अपनी पैनी दृष्टि से पकड़ने की चेष्टा करें और साथ ही व्यास-शैली में बड़ा पोथा न लिख सकने की मेरी अक्षमता को क्षमा भी कर दें। आशा है, मेरा यह आत्मनिवेदन सफल होगा और अभ्यर्थना व्यर्थ न जायगी।

इस पुस्तक के लिए इससे अधिक मेरा कोई दावा नहीं है कि इसमें मैंने प्रसादजी की साहित्यिक प्रगति को अपने ढग से समझने की चेष्टा की है। अवश्य, प्रसादजी की साहित्यिक प्रगति के सबंध में मेरे बहुत-से दावे हैं। मुझे प्रसन्नता भी है कि अब, समय की गति के साथ, ये दावे साहित्य के इजलास में स्वीकार भी किए जा रहे हैं। कुछ थोड़े से पुराने और कुछ नये पेचीदा दिमाग के लोगों की बात अलग है। किन्तु उनसे भी मैं यह पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करूँगा। प्रसादजी एक नए साहित्य-युग के निर्माता ही नहीं हैं, एक नई विचारशैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी हैं। उनमें अपने युग की प्रगतिशीलता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। यही नहीं, वे एक बड़ी हद तक भविष्यद्रष्टा और आगम के विधायक भी हैं। सभी महान् साहित्यकारों की भाँति उन्होने अपने युग की प्रगतिशील शक्तियो को पहचाना और उन्हें अभिव्यक्ति दी। सामाजिक और सास्कृतिक उत्थान सदैव नीचे स्तरों से ही होता है, इसलिए प्रसादजी ने बहिष्कृतों, अपाहिजों और विशेष-कर अबलाओं का साथ दिया। प्रसादजी कोरी भावुकता मे डूबनेवाले व्यक्ति नहीं थे, वे एक सजग द्रष्टा, लक्ष्य और उपाय-निरूपक स्मृतिकार भी थे। कलाकार की हैसियत से उन्होंने उदात्त और शक्तिशाली भावनाओं तथा जीवनमय चरित्रों का निर्माण किया है। प्रातःकालीन स्वच्छ वनवायु की भाँति, प्रथम यौवन की मधुर कल्पना की भाँति उन्होंने साहित्य में अपना आगम जनाया और क्रमश गहनतर और उच्चतर भूमि पर पहुँचते गए। यदि वे कामायनी में उच्चतम अध्यात्म की झलक दिखाते हैं, तो वह भी जीवन की सर्वदिक अनुभूतियों के अंतराल से प्रकट हुए निष्कर्ष के रूप में। वह किसी कोरे स्वप्नद्रष्टा की काल्पनिक या अंधाधुन्ध उड़ान नहीं है। प्रसादजी की सचेत और जीवन से जुड़ी हुई रचनात्मकता की प्रतिष्ठा सबसे पहले होनी चाहिए।

एक महाशय ने कह दिया कि प्रसादजी तो बाबा आदम के जमाने के

चरित्रों को अपने नाटकों में रखते हैं—गड़े मुर्दे उखाड़ते हैं, तो दूसरे महाशय नई भाषा मे कहने लगे--प्रसादजी तो 'एस्केपिस्ट' हैं, जीवन से भागते हैं। एक तीसरे महाशय रहस्यवाद के नाम से ही इतने घबड़ा उठे कि प्रसादजी का सारा रहस्यवाद उन्हें रूढ़िवाद जँचने लगा। एक चौथे महाशय कुछ इधर-उधर की टोह लगाकर कहने लगे, प्रसादजी के साहित्य मे मध्यकालीन विलास और खुमारी ही उन्हें मिलती है। बस समालोचनाओं का ताँता इसी तरह बँध गया और लोग मनमानी हाँकने लगे। जिन्हें छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठपोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतंत्र गद्यकाव्य लिखने में लगे हुए थे जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था। ऐसी स्थिति में प्रसादजी के साहित्य का ठीक-ठीक सत्कार कैसे होता !

ऐसी ही स्थिति में मेरे ये निबन्ध लिखे गए हैं। इनमें मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्रसादजी का साहित्य सच्चे अर्थ में नवीन जीवन से सबद्ध है और वह आधुनिक समस्याओं का हल भी उपस्थित करता है। वह साम्प्रतिक जीवन का उन्नायक है। उनका नाटक-साहित्य इतिहास और 'रोमान्स' के भीतर से नई सास्कृतिक जागृति में सहायक हुआ है। यह बात साहित्य के विद्यार्थियों से छिपी नहीं है कि पश्चिमी सास्कृतिक उत्थान ('रिनेसा') के प्रभातकाल में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ साहित्य में दिखाई दी थीं। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ या छोटी कहानियाँ कोमल, कल्पनाविशिष्ट, किन्तु उत्थानमूलक भावनाओं से भरी पड़ी हैं। उनके दो उपन्यासों में एक (ककाल) रूढ़िवद्ध जाति-प्रतिष्ठा के विरुद्ध और सरा (तितली) उच्चवर्गीयता के विरुद्ध आन्दोलन करता है। तितली के नायक और नायिका दोनों ही श्रमिकवर्ग के हैं और यद्यपि वे कम्यूनिस्ट लेखकों के इस श्रेणी के चरित्रों की भाँति कर्कश, सघर्षमय और घृणाभिभूत नहीं हैं, फिर भी अपनी वर्गचेतना से रिक्त नहीं हैं और भारतीय श्रमिक की सस्कारी परम्पराओं से युक्त हैं। और प्रसादजी का काव्य, चाहे उसे छायावाद कहिए या रहस्यवाद, मानवीय भूमि पर ही खड़ा हुआ है। अपने काव्य के लिए जो कतिपय दार्शनिक उद्भावनाएँ उन्होंने की हैं, उनसे यह आभास मिल जाता है कि प्रसादजी शक्ति और आनन्द की ऊँची मानसिक अभिव्यक्ति को ही काव्य

का प्रमुख लक्षण मानते हैं। मैं यह नहीं कहता कि प्रसादजी की रचनाओं में कहीं मानसिक शैथिल्य, खुमारी या ऐन्द्रिय विकार हैं ही नहीं, कतिपय क्षणों में उन्होंने जीवन-संघर्ष के प्रति भीरुता या पलायन का भाव भी प्रकट किया होगा, किन्तु उन्हें हम अपवाद-स्वरूप ही मान सकेंगे।

अवश्य प्रसादजी का साहित्य 'रोमैन्टिक' या कल्पना-प्रधान श्रेणी में रक्खा जायगा, किन्तु रोमान्स के अंतर्गत प्रगतिशील साहित्य भी आ सकता है और ह्रासशील भी। रोमैन्टिक नाम से ही कुछ-का-कुछ समझ बैठना ठीक नहीं। हमें साहित्य की परीक्षा उसमें निहित मनोभावना से ही करनी होगी। जो प्रगतिशील महानुभाव केवल ऊपरी दृष्टि से जीवन और साहित्य का ऐक्य देखना चाहते हैं, जो साहित्य की भावनात्मक गहराई में नहीं पैठना चाहते, जिनके लिए साहित्यिक प्रगति की पराकाष्ठा 'लाल तारा' तक पहुँचकर रह गई है और जो स्वभावतः 'रोमान्स' नाम से नफरत करने लगे हैं (मैं कह सकता हूँ उनमें से बहुतों की नफरत केवल कागजी है), उन्हें मैं साहित्य का समीक्षक मानने से इनकार करता हूँ। उन्हें चाहिए कि वे राजनीतिक गुटबन्दी के भीतर ही अपने विचारों का आदान-प्रदान किया करें।

यहाँ मैं उन असाहित्यिक प्रगतिवादियों के लिए उन्हीं के एक गुरुदेव की सम्मति का कुछ अंश उद्धृत करूँगा, जो उन्होंने एक शताब्दी पूर्व के रोमान्स-वादी कवि 'स्काट' के सम्बन्ध में दी थी। ये उनके गुरुदेव साहित्यिक क्षेत्र से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते, फिर भी इनकी सम्मति काफी निष्पक्ष है। आप (मेरा मतलब महाशय हैवलक एलिस से है) लिखते हैं :—

"Scott's work is the outcome of a rich and generous personality endowed with an eager imaginative receptivity When he brought into the world what was, in effect, with all its imperfections, a new vision of the panorama of human life on earth It has ceased to thrill by its novelity But when it appeared it appealed mightily to grown men and women and influenced the course of literature every where. Half a century ago it was still a paradise for the young. And now? Well, it remains a source of joy if you have the fine thirst do drink there.

Today I view Scott with more balanced judgment. His faults were many and his inequalities disconcerting: but the same may be said, I find, of the very different virtues and vices of the most modern men, D. H Lawrence or whom you will."

यह तो हुई 'स्काट' की बात। प्रसादजी तो उसकी अपेक्षा बहुत आधुनिक हैं। वे कोरमकोर रोमान्सवादी भी नहीं, वे रहस्यवाद के ऊँचे समतल पर पहुँचते हैं और सबलतर भावना की सृष्टि करते हैं। मैं तो 'अध्यात्म' शब्द से नहीं घबड़ाता, क्योंकि मैंने 'अध्यात्म' का लेबल लगा हुआ उच्च काव्य पढ़ा है, किन्तु जो इस नाम से ही इसे जीवन के बाहर की वस्तु समझ लिया करते हैं, उनके आश्वासन के लिए मैंने कहा है कि प्रसादजी का रहस्यवाद अथवा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन-व्यापार की नींव पर ही खड़ी है। आप नींव भी देख सकते हैं और प्रासाद भी (तब सम्भवतः आप प्रासाद को केवल आकाश की वस्तु समझना छोड़ें) प्रसादजी ने अपने काव्य की मानवीय नींव इसलिए स्पष्ट रूप में दिखाई है कि आध्यात्मिक उच्च भावना का व्यावहारिक या संसारी पहलू भी हम देख लें। बिना इसे देखे आज के पाठक को शायद सन्तोष न हो।

ऊपर मैंने प्रसादजी के काव्य की मानवीय नींव की बात कही है। आजकल जहाँ देखिए, वहाँ मानवीय शब्द की भरमार हो रही है। सभी अपने काव्य को मानवीय करार देना चाहते हैं। फलतः 'मानवीय' शब्द इतना अनेकार्थी हो गया है कि उसे निरर्थक भी कह सकते हैं। बहुत-से लोग मैथिलीशरणजी के काव्य में मानवता का निरूपण देखते हैं। अवश्य, उसे हम अमानवीय नहीं कह सकते, पर वह एक प्रकार की आश्रमवासिनी मानवता है। आश्रमवासी की सारी पवित्रता और सम्पूर्ण सरलता उसमें है। किन्तु उनका काव्य आधुनिक जीवनव्यापी संघर्ष से अनाक्रान्त और अपरिचित है। वे आज के साहित्यिक को उपदेश देते हैं कि वह दीन-दुखियों का कष्ट देखे और उसका प्रदर्शन काव्य में करे। गुप्तजी शायद इस बात से सुपरिचित नहीं कि आज के साहित्यिक कर क्या रहे हैं। गुप्तजी एक युग पहले का मध्यवर्गीय सन्तोष हमें सिखाते हैं, उन्हें आज की आग का अंदाज नहीं है।

गुप्तजी की मानवता और उसकी समस्त भावना और संस्कारों से भिन्न प्रसादजी की मानव-कल्पना है। प्रसादजी दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियों

से मानव को जीवन संघर्ष के लिए उद्यत कर देते हैं। वे कहीं कृत्रिम सन्तोष का पाठ नहीं पढाते। प्रसादजी नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बाँधकर एक संगठित मोर्चा तैयार करते हैं (उनकी आख्यायिकाओं में यह सूत्र हमें मिलता है और 'तितली' मे मोर्चा तैयार है)। प्रसादजी का मानव, धर्म की रूढ़ियों से छूटकर, आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आँखों सासारिक स्थिति को देखता है। व्यक्तिगत सुख-दु.ख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्यभावना का प्रयोग जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यों माना जाय? गीता में यही निरूपण अर्जुन को महाभारत के संघर्ष के लिए तैयार कर सका था।

जो लोग दुःख और अभाव की समस्या का वैज्ञानिक समाधान चाहते हैं, वे इस आध्यात्मिक हल को कोई हल नहीं मानते। वे प्रत्यक्ष तथ्यवादी (पाजिटिविस्ट्स) उल्टा इसे असली प्रगतिशील समाधान को दूर घसीटने वाला करार देते हैं। असली प्रगतिशील समाधान है ६० प्रतिशत समस्याओं के लिए वर्गसंघर्ष और क्रान्ति, सामाजिक विधिनिषेधों का परित्याग और नवीन प्रयोग। प्रसादजी का रहस्यवाद, चाहे उसे 'आँसू' के पद्यों में देखिए, अथवा 'कामायनी' के अतिम सर्ग में, मानसिक संतुलन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। गीता में भी रहस्यवाद या आध्यात्मिक समाधान सासारिक द्वंद्व का प्रेरक ही सिद्ध हुआ है। हमें किसी वस्तु से न चिढ़कर उसके प्रयोग की परीक्षा कर देखनी चाहिए। तभी हम रचनाकार का ठीक उद्देश्य समझ सकेंगे।

रचनाकार की समसामयिक स्थिति से भी हमे अपरिचित नहीं रहना चाहिए। प्रसादजी मुख्यतः साम्य, सख्य और स्वातंत्र्य (equality fraternity and liberty) के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे। फिर भी उन्होंने एक भविष्यद्रष्टा की भाँति आगामी वर्ग-संघर्ष का आभास दिया है। उन्होंने एक कल्पनाप्रवण, सहानुभूतिशील और अग्रगामी मध्यवर्ग के चित्रण से आरभ कर श्रमिक दपति के चरित्रनिर्माण तक अपना कथानक-साहित्य पहुँचा दिया है। कामायनी काव्य मे उन्होंने एकागी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें आगे कुछ और कहना है। यहाँ इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी कम्यूनिस्ट उपचारों को कट्टरपन के साथ ग्रहण नहीं करने, किन्तु अपने युग की प्रगति में वे पिछड़े हुए नहीं थे।

भूमिका

इस प्रश्न को इस हद तक बढ़ाना इसलिए आवश्यक था कि आजकल 'रोमान्स' और 'रहस्यवाद' का नाम देकर प्रसादजी के साहित्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न की जाती है। यह विरक्ति अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच जाती है और हम प्रसादजी का वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य आँकने से भी विरत रह जाते हैं। कुछ लोग तो साहित्यिक और कलात्मक उत्कर्ष की ओर ध्यान न देकर, जीवनमय चरित्रों के निर्माण से बहुत दूर रहनेवाले लीक-पीटक संघर्षवादी को साहित्य-शिरोमणि करार देने लगे हैं। ये लोग अपने को साहित्य और जीवन का समन्वयकारी समझते हैं, किन्तु इन्हें यह पता नहीं कि साहित्य में जीवन केवल कुछ सैद्धान्तिक नुस्खों और कुछ चुने-चुनाए वाक्यांशों को नहीं कहते, उसकी और भी गहरी सत्ता है। न इन लोगों को यही मालूम है कि साहित्य के भीतर प्रगतिशील जीवन की सृष्टि कैसे की जाय। राजनीतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खों से चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई में विना प्रवेश किए नहीं आती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देख कर प्रौढ, जीवनमय साहित्य का निर्माण करनेवाले साहित्यिकों के प्रति नाक भौंह सिकोड़ लेते हैं और इस प्रकार साहित्य में जीवन के सन्निवेश की समस्या को गहरी गलतफहमियों में डुबो देते हैं। यदि मुझे क्षमा किया जाय तो मैं कहूँगा कि पुरानों में श्री रामनरेश त्रिपाठी और ठाकुर श्रीनाथ सिंह तथा नयों में बहुत अंशों तक स० ही० वात्स्यायन आदि इसी श्रेणी के साहित्यिक और समीक्षक हैं।

कला और साहित्य में प्रगतिशील निर्माण की समस्या उस प्रगतिशीलता से बिल्कुल भिन्न है जिसे हम एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त या उपचार के रूप में जानते हैं। दोनों को एक ही लाठी से नहीं हाँका जा सकता। साहित्य में जीवन की वास्तविक रचना करनी होती है, अत: उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन-निर्माण की सफलता के आधार पर होगी। साहित्य में प्रगतिशीलता का स्वरूप सिद्धान्त-निरूपण और नपे-तुले हलों द्वारा नहीं जाना जायगा। उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदंड होंगे। जीती-जागती बहुरूप जीवन परिस्थिति का प्रदर्शन उसके लिए आवश्यक है। साहित्यकार वाध्य नहीं है कि वह प्रगतिशील नामधारी एक दार्शनिक उपक्रम का अनुगामी हो। यदि उसने पतनोन्मुख

समाज के जीवंत चित्र हमारे सामने उपस्थित किये हैं और यदि वे अपना ईप्सित प्रभाव हम पर छोड़ जाते हैं, तो हम उस कलाकार को अप्रगतिशील नहीं कहेंगे।

प्रसादजी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियों के निरूपक हैं। उनकी साहित्य-सृष्टि एक आशावादी और स्वातन्त्र्य-प्रेमी युग का प्रतिनिधि है। साहित्यिक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।

मैथिलीशरणजी जिस पूर्व युग के प्रतिनिधि हैं, उससे भिन्न युग की काव्य-सृष्टि प्रसादजी की है, इस बात की पुष्टि के लिए दोनों की दो-चार चुनी हुई रचनाओं की बानगी देख लेना काफी होगा। गुप्तजी की प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव श्री प्रोफेसर अमरनाथ झा ने एक स्थान पर दिया है, इससे हमारा काम और भी सरल हो गया है। गुप्तजी की शैली का विकास उन्होंने इन उद्धरणों में दिखाया है—

अहा ग्राम्यजीवन भी क्या है
क्यों न इसे सबका मन चाहे।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है,
ऐसी सुविधा और कहाँ है।

× × ×

वे मोह-बंधनमुक्त थे,
स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे।
सपूर्ण सुख संयुक्त थे,
वे शान्ति शिखरासीन थे।
मन से, वचन से, कर्म से,
वे प्रभु भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के,
वे मनोहर मीन थे।

× × ×

ये गगनचुंबित महा प्रासाद,
मौन साधे हैं खड़े सबिषाद।

शिल्प कौशल के सजीव प्रमाण,
शाप से किसके हुए पाषाण !
या अड़े हैं मेटने को आधि,
आत्मचिन्तन रत अचल समाधि।
किरणचूड़ गवाक्ष लोचन मींच,
प्राण से ब्रह्माण्ड में निज खींच।

× × ×

प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं
यह नश्वर तनु लेकर कैसे,
स्वागत सिद्ध करूँगी मैं।
नश्वर तनु पर धूल किन्तु,
हाँ उन्हीं पदों की धूल
कर्मबीज जो रहे मूल में
उनके सब फल-फूल,
अर्पण तुम्हें करूँगी मैं,
प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।

× × ×

अब यदि इन्हें हम औसत तौर पर गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना मान लें, तो हम देखेंगे कि इनमें एक विनयपूर्ण सीधा-सादा आदर्शवाद जिसमें आरंभिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पंदन है, कल्पना की ऊँची उड़ानों से रहित अनुभूति, द्वंद्वरहित भाव और एकहरी अभिव्यक्ति है। इसमें किसी जीवनतत्त्व का वैषम्य, आलोड़न-विलोड़न, संशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नहीं है। सीधा रास्ता, सीधी समस्या और सीधा समाधान। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह सिधाई आश्रमवासिनी सिधाई है जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, प्रेमचन्दजी की भी सफलता इसी प्रकार की सीधी समस्याओं के समाधान में है, जो छोटी कहानियों में समा सकी हैं। कहानियों के निर्माण में साधारण उत्थान-पतन, भावों का आरोह-अवरोह, स्थितियों का वैचित्र्य दिखा सकना, ये प्राथमिक सफलताएँ उनकी हैं। बड़े जीवन-चक्रों को हाथ में लेना; पेचीदा भाव धाराओं और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओं का निरूपण करना; व्यक्ति, देश और जाति के

जीवन के बृहत् छाया-आलोकों को उद्घाटित कर सकना; सारांश यह कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातों और विस्तृत जीवन-दशाओं में पद-पद पर आनेवाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें सभालना और अपनी कला मे उन सबको सजीव करना गुप्तजी और प्रेमचन्द्रजी की साहित्य सीमा के बाहर है। प्रसादजी की अनुभूति तथा सूझ अधिक गहरी और उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक ऊँची अवश्य है, यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने युगजीवन के उद्घाटन में संपूर्ण सफलता प्राप्त की है।

प्रसादजी की रचनाओं से भी मैं चार ही पाँच उद्धरण दूँगा :—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे,
जब सावन-घन सघन बरसते
इन नयनों की छाया भर थे।

× × ×

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर
नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर
मगल कुङ्कुम सारा।

× × ×

वह सारस्वत नगर पड़ा था
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना।
जिसके ऊपर विगत कर्म का,
विष-विषाद आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे।
वसुधा पर यह होता क्या है,
अणु-अणु क्यों हैं मचल रहे।
निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सर्राटे।

सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सन्नाटे।

× × ×

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग में,
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में,
आँखों में अंजन-सी लगती।
कुंचित अलकों-सी घुँघराली,
मन की मरोर बन कर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता को,
मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।

× × ×

तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
जीवन के घन रसकन ढलते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

ये प्रसादजी की औसत रचना के उदाहरण हैं और गुप्तजी के उद्धृत अवतरणों से मिलते-जुलते विषयों पर चुने गए हैं। पाठक देखेंगे कि इनमें एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य में छायावाद के उपकरण बनकर आए। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में एक स्वातन्त्र्य-लालसा, शक्ति की अभिज्ञता, और सांस्कृतिक द्वंद्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पनाविशिष्ट दर्शन के अंग बने हुए हैं जिसमें

बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ हैं। इस नवीन दर्शन में कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित झाँकी है। इसे अकेले कर्मसंघर्ष से उद्भूत दर्शन हम नहीं कह सकते। यह उसका पूर्वरंग अवश्य कहा जायगा। इसमें कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी गई है। कामायनी काव्य में इड़ा के प्रतीक-द्वारा जिस संघर्ष-प्रधान, कर्मप्रमुख जीवन-उपक्रम का प्रदर्शन कराया गया है, उसकी पूर्ण स्वीकृति न तो कामायनी में है और न छायावाद-काव्य में ही। किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भाव-व्यंजना से कई कदम आगे वह अवश्य है।

इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है।

प्रसादजी के साहित्य की दार्शनिक सीमा-रेखा और भी स्पष्ट हो जाय, इस दृष्टि से मैं कामायनी-काव्य में आए हुए श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों को नए सिरे से आपके सम्मुख रखना चाहूँगा। कामायनी-काव्य में दो पीढ़ियों के चार चरित्र हैं। पहली पीढ़ी मनु और श्रद्धा की है, जो काव्य के नायक-नायिका हैं और दूसरी पीढ़ी श्रद्धा-पुत्र और इड़ा की जोड़ी बनकर चलती है। इन दोनों पीढ़ियों में कुछ हद तक खींचतान भी है। मनु को सारस्वत या बौद्ध-प्रदेश का पुनरुत्थान करने में लगाकर फिर उसके दुष्परिणामों से उन्हें अभिभूत कर दिया जाता है; प्रसादजी अपने काव्य का अधिनायकत्व श्रद्धात्यागी और इड़ासेवी मनु को नहीं देते, वे उसे रास्ते पर लाते हैं। फिर दूसरी पीढ़ी में उनकी संतति भी श्रद्धा और बुद्धि के सम्मिलित योग से नवीन जीवनक्रम चलाती है।

वन्य या ग्राम्य-जीवन से आरंभ होकर कामायनी-काव्य की प्रगति नागरिक सभ्यता और नवीन औद्योगिक आयोजनों तक होती है। प्रसादजी यद्यपि यह स्वाभाविक विकास दिखाने में अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय देते हैं, किन्तु वे औद्योगिक संघर्ष को यथार्थ और अनिवार्य रूप में नहीं लेते। वे उससे उत्पन्न होनेवाले द्वंद्व का समाधान करने के लिए श्रद्धा-पुत्र को छोड़ जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे श्रद्धा और बुद्धि दो वस्तुओं के संतुलन में इस समस्या का समाधान देखते हैं।

भूमिका

मैंने कामायनी की आलोचना मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनकी दृष्टि समन्वय चाहती है, और वे संघर्षात्मक जीवन-दर्शन के अनुयायी नहीं हैं। अब मेरे सहृदय और विचक्षण काव्यपारखी मित्र श्री इलाचन्द्र जोशी श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों-द्वारा व्यंजित दो जीवन-दृष्टियों को विरोधी शिविरों में रखते हैं और श्रद्धा को अतिशय कल्याणीया, अनन्त करुणामयी, मगल-अभिषेकमयी आदि कहकर ग्रहण करते हैं और इड़ा को उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी, अनन्त-अतृप्ति- दायिनी आदि रूपों में देखते हैं किन्तु इसी 'उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी' को मनु अपने पुत्ररत्न की सहचरी बनाते हैं। स्पष्ट है कि प्रसादजी सभ्यता के इस बुद्धिवादी विकास को लांछित नहीं करते, न उसकी वास्तविकता से आँखें मूँदते हैं, किन्तु वे एक समन्वय-सूत्र हमारे सामने रखना चाहते हैं।

इस सबध में मुझे अपने मित्र, हिन्दी के सुपठित मनोविश्लेषक और काव्यालोचक श्री नरोत्तमप्रसाद नागर की उद्भावना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। वे पूछते हैं, श्रद्धा करुणामयी कहाँ है—जब कि वह इतनी असहनशील है ? इड़ा यदि नारी होने के कारण ही उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी हो, तो इसमे उसका क्या दोष ? और श्रद्धा का भी यही स्वरूप (बल्कि इससे अधिक उन्मत्त लालसामय) पुस्तक के प्रारंभिक सर्गों में देखा जा सकता है। इड़ा तो मनु को सच्छिक्षा ही देती है, उस बेचारी का अपराध क्या है ?

मनु और इड़ा के संबंध को प्रसादजी ने मनुपुत्र और इड़ा के संबध मे परिणत कर दिया है। इससे इड़ा का त्याग नहीं, ग्रहण ही सिद्ध होता है। हाँ, प्रसादजी का मनु को श्रद्धा के साथ एकान्त मानस-प्रदेश की ओर ले जाना और वहाँ भाँति-भाँति के दृश्यों के बीच 'कर्म', 'भावना' और 'चेतना' के तीन गोलक दिखाना तथा उनके वैषम्य को मिटाकर उन्हें समन्वित कर देना प्रसादजी के समन्वयवाद का द्योतक है। वैज्ञानिक प्रगतिवाद की दृष्टि से प्रसादजी यहीं प्रवृत्तिमूलक वैज्ञानिक और बौद्धिक विचार-धारा से पृथक हो गए हैं। किन्तु मेरा यह कहना है कि बुद्धि की अति और उसके अवश्यम्भावी विकारों का ही प्रतिषेध प्रसादजी ने किया है और यह उनकी मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनुकूल ही है।

वैज्ञानिक संघर्षात्मक-प्रवृत्ति-दर्शन ही आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के मूल में है। प्रसादजी इस दर्शन के साथ सारी दूरी तक नहीं जाते किन्तु इस

कारण कोई उन्हें अप्रगतिशील नहीं कह सकता। साहित्य में उन्होंने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओं का ही विन्यास किया है, उषाकाल की प्रभाती ही गाई है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नव सौन्दर्य की सृष्टि में ही किया है। मैं कह चुका हूँ कि साहित्यिक प्रगति और दार्शनिक प्रगतिवाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं, और यह आवश्यक नहीं कि साहित्य किसी विशेष दार्शनिक मतवाद से बँधकर ही प्रगतिशील कहलाए। इतना कहने के पश्चात् यह स्वीकार करने में हमे कोई आपत्ति नहीं है कि प्रसादजी ने नवीन सघर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन को सपूर्ण स्वीकृति नहीं दी है। सक्षेप मे प्रसादजी की साहित्यिक और दार्शनिक स्थिति यही है।

अब प्रसादजी की शैली, वस्तु-संघटन और कथानिर्माण के पक्ष पर दो शब्द कहके मै इस निबध को समाप्त करूँगा। इस सबध में अधिकांश समीक्षकों का कथन रहा है कि उनकी शैली जटिल और दुरूह है तथा उनका वस्तुविन्यास शिथिल और बोझीला है। उनके नाट्यसमीक्षक श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इस विषय की शिकायत की है। कृष्णानन्दजी यदि इब्सन या डी० एल० राय की शैली के प्रभाव से मुक्त होकर प्रसादजी की नाट्यशैली की स्वतंत्र परीक्षा करते तो अधिक अच्छा होता। प्रसादजी की भाषा और अभिव्यक्ति में जटिलता उन्हें अधिक दीखी है, जिन्हें यह नहीं दीखा कि प्रसादजी किन नवीन समस्याओं के संपर्क में थे और किस नवीन विचारणा तथा भावलोक का निर्माण कर रहे थे और इस कार्य में उनकी कठिनाइयाँ कितनी थीं। फिर क्रमविकास की दृष्टि से भी उन्होंने प्रसादजी की परीक्षा नहीं की। क्रमशः प्रसादजी भाषा के सारल्य और भावों के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढ़ते गए हैं, यह भी उन्हें देखना चाहिए। कथानक के कलात्मक निर्माण के सबंध में हम इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी अपने समसामयिक हिन्दी रचनाकारों के समकक्ष हैं। यदि उनमें बहुत बड़ी 'एन्जीनियरिंग' करामात हमें नहीं मिलती, तो हम स्मरण रक्खेंगे कि वे किन नवीन प्रयासों में व्यस्त थे। और हमें यह भी नहीं भूलना होगा कि प्रसादजी नई कला-प्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिन्तना के निर्माण-कार्य में अधिक संलग्न थे। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि नई भावधारा आरंभ में पाठकों के लिए विचित्र और बेपहचान होती है। वे शिकायत करने लगते हैं भाषा की और उसकी जटिलता की। क्रमशः वह शिकायत घटती जाती है

और हम उस भावधारा को अपना लेते हैं। तब भाषा और शैली सम्बन्धी आरोप भी कम हो जाते हैं। यही बात प्रसादजी के समीक्षकों के संबंध में भी चरितार्थ हुई है।

किन्तु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रसादजी की त्रुटियों पर लीपापोती करें और उनके ऐसे गुणों की स्थापना करें, जिनका अस्तित्व नहीं है उनके गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर उपस्थित करना भी अनुचित होगा। वे जितने हैं और जो कुछ हैं, हमें उतने से ही प्रयोजन है। उतने गुणों में भी वे महान् और युग-प्रवर्तक सिद्ध होते हैं। 'ककाल' की कथा-रचना में बहुतों को शिकायत है कि प्रसादजी ने अपने कुछ विचारों को व्यक्त करने के लिए ही यह कथा रची है, इसलिए कथा की दृष्टि से वह सफल नहीं हो पाई। चरित्रों का निर्माण इसी कारण यथेष्ट सजीव नहीं हो पाया। संभव है, ये त्रुटियाँ किसी हद तक 'कंकाल' मे हों (यद्यपि चरित्र-निर्माण के सबध में मैं यह नहीं कह सकूँगा कि वे सजीव नहीं हैं), किन्तु ये त्रुटियाँ उन सभी साहित्यकारों मे किसी-न-किसी मात्रा में पाई जाती हैं, जिनका उद्देश्य मुख्यतः नई सास्कृतिक विचार-धारा का साहित्य में प्रवेश कराना होता है। ऐसे थोड़े कलाकार मिलेंगे जो कथा के कलात्मक निरूपण, चरित्र-निर्माण और विशिष्ट चिन्ताधारा के सनिवेश मे समान रूप से सफल हुए हों। प्रसादजी को जितनी सफलता इस कार्य में मिली है, वह अपने में कम नहीं है। समय को देखते हुए (हिन्दी के विकास की उस अवस्था में) वह बहुत ही कही जा सकती है।

अत में मै फिर कहूँगा कि साहित्य का क्षेत्र स्वस्थ और सबल भावनाओं के सृजन का क्षेत्र है। अस्वस्थ और निर्बल भावनाओं का चित्रण भी नेगेटिव या अपर पक्ष को दिखाने के लिए किया जा सकता है। किन्तु उसे आदर्श' मान बैठना रास्ते से भटक जाना है। समय के प्रवाह के साथ नई विचार-धाराएँ और नवीन जीवन-दर्शन साहित्य मे समाविष्ट होते हैं। समाज के परिवर्तनशील स्वरूपों पर साहित्यकार को सूक्ष्म निगाह रखनी होती है और उन नवीन विचारधाराओं और जीवन-दर्शनों को विवेक Discrimina-tion) के साथ ग्रहण करना पड़ता है। साहित्यकार अपने युग की बहुमुखी सामाजिक और सास्कृतिक समस्याओं का प्रदर्शन करता है और उनके संबंध मे प्रचलित प्रतिक्रियाओं का निरूपण कर दिखाता है। कभी-कभी वह अपने स्वतत्र समाधान भी उन समस्याओं के संबध में उपस्थित करता है और

कभी-कभी तटस्थ दृष्टि से उनका चित्रण कर देना पर्याप्त समझता है। कभी सामयिक हीनताओं के प्रति परिहास और आवर्जना प्रकट करने में वह नहीं हिचकता और कभी गुमसुम रहकर पाठकों को अपना निष्कर्ष आप निकालने के लिए छोड़ देता है।

इस सब के लिए अति आवश्यक है कि साहित्य का स्रष्टा युग के विकासोन्मुख जीवन और प्रवृत्तियों का अनुभवी और हिमायती हो। इससे भी अधिक उसमें वह ऊँची प्रतिभा होनी चाहिए कि वह न केवल जीवन-विकास का साक्षात्कार कर सके, बल्कि ललित, उदात्त और सुग्रथित कल्पनाओं और रचना-शैलियों द्वारा उनका साक्षात्कार पाठकों को भी करा सके। उसे विवेकवान् और पारदर्शी ही नहीं, काव्य-शक्ति से भी सपन्न होना चाहिए। प्रसादजी न केवल इन दोनो गुणों से युक्त थे, ऐसी असाधारण क्षमता इनमें रखते थे कि उतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिन्दी-साहित्य के इस युग में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नहीं, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते हैं। इन निबंधों में उनके काव्य-गुणों की विशेष चर्चा नहीं की जा सकी है। इनमें तो उनकी साहित्यिक भावना के विकास, उनकी सामाजिक विचारणा और दार्शनिक प्रवृत्तियों का ही उल्लेख किया गया है। उनके काव्य-गुणों की चर्चा यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं रहा है। इसके लिए तो स्वतंत्र प्रयास की आवश्यकता होगी।

व्यक्ति की एक झलक

गत वर्ष जब प्रेमचन्दजी हिन्दी-संसार को सूना करके जा रहे थे, तब उनके साथ श्मशान तक प्रसादजी भी गए थे और मैं भी गया था। अर्थी काशी की गलियों से होकर जा रही थी, इतने में किसी ने वहीं की बोली में कहा "मालूम होता है कोई मास्टर मर गया है।" बात यह थी कि अर्थी के साथ थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग थे, कोई भीड़ न थी और 'राम-नाम सत्य है' की आवाज भी वैसी नहीं हो रही थी। ऐसी अवस्था में कोई मामूली मास्टर ही मर सकता था, और कौन मरता!

स्पष्ट ही मुझे उसकी वह बात अच्छी नहीं लगी और मैं कुछ गम्भीर-सा बन गया। अर्थी चली जा रही थी और हम लोग उसके पीछे चल रहे थे। इतने में देखता क्या हूँ कि प्रसादजी ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया है और कान से लग कर धीरे-से, किन्तु अपनी सुपरिचित मुस्कान के साथ कह रहे हैं, "वाजपेईजी, ई का कहि रहा है, कुछ समझ में आवता है?" प्रसादजी को जब विनोद करना होता, तब वे इसी प्रकार खड़ी बोली को जरा टेढ़ी-मेढ़ी कर दिया करते थे

मैं अपनी वही फिलासफी सुनाने को हुआ, यह कि आज किसी दूसरे देश का इतना बड़ा व्यक्ति उठ गया होता, तो क्या दृश्य होता, कोई यह कैसे कह सकता कि कोई मास्टर मर गया है, सिर्फ; यह मैं कह रहा था कि प्रसादजी ने बीच ही में बात काट दी। कहने लगे, "अरे यार तुम कुछ समझते नहीं हो, का नाम के बीच मा, यहै बनारसी रंग आय।' जब कभी प्रसादजी की इच्छा होती, बहुत प्रसन्न होते, मुझसे कानपुर की बोली में बातें करते। वे स्वय उसी प्रान्त के मूल निवासी थे, यह भी झलक उनकी बोली में रहती।

मेरी उदासी कम हुई। मैंने यह समझा कि उसने 'मास्टर के मरने की बात किसी तुच्छता के विचार से नहीं कही। वह अपने किसी काम में लगा हुआ था। जो बात स्वाभाविक उसके मन में आई, वही उसने कही। इसमे

मेरे लिए गम्भीर होने की कोई बात नहीं थी। लाखों मनुष्यों का किसी मनुष्य के मरने पर काम-धाम छोड़ कर तन्मय हो जाना कुछ बहुत आवश्यक नहीं; न मरनेवाले की महत्ता ही इससे प्रकट होती है कि उसकी अर्थी के साथ कितने अधिक व्यक्ति थे, न इससे मृत व्यक्ति को कुछ सुख है, न कुछ लाभ। देखने की बात तो यह है कि किसी ने अपने जीवन-काल मे क्या किया। अपने जीवन से स्वयं उसको कितना संतोष या पछतावा रहा और दूसरों के लिए वह क्या छोड़ गया? यही दो मुख्य बाते किसी के जीवन का महत्त्व निर्णय कर सकती हैं। काल इतना विशाल है और पृथ्वी इतनी विस्तृत है कि बड़े-बड़े सम्राटों की कीर्ति फीकी पड़ जाती है। जिनके जीवन और मरण के अवसर, एक ही साँस में, संसार को आनन्द के कोलाहल और शोक के सन्नाटे से भर सकते हैं, वे ही बड़े नहीं हैं। बड़े वे भी हैं, जिनका जीवन-दीप सूने में ही बुझ गया है, किन्तु जिनकी अमर ज्योति एक के पास से दूसरे के पास जाकर सब को आलोकित करेगी, धीरे ही धीरे सबके अनुभव में आवेगी, सबको प्रकाश देगी। ये सब बातें उसी क्षण मेरे माथे में आ गई और मैंने प्रसादजी की ओर हँस कर देखा और कहा, "सचमुच आप ठीक कहते हैं, यही बनारसी रङ्ग है।"

प्रसादजी फिर मुस्कराये और बोले, "अब समुझ मा आवा, बनारसी रङ्ग का आय?" मैंने कहा—"आवा समुझ मा।"

पर सच तो यह है कि प्रसादजी की बात मेरी समझ में फिर भी नहीं आई, क्योंकि मैं उसे समझना चाहता ही नहीं था। अथवा यह कहूँ कि मेरी समझ के परे उनकी बात थी। मै तो भविष्य की बात सोच रहा था कि आगे चल कर प्रेमचन्दजी का सम्मान होगा, अभी लोग उन्हें मामूली मास्टर ही समझें तो समझ लें। पर प्रसादजी का यह मतलब बनारसी रङ्ग से नहीं था। उनका मतलब तो यह था कि कोई किसी के मरने पर क्यों मातम मनावे। हम स्वयं कितनों के मरने की खबर रखते हैं? सब अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं, यही अच्छा है। आनन्द तो अपने काम में ही, अपनी कृति में ही है; दूसरी जगह उसे कोई कहाँ ढूँढ़े और ढूँढे भी क्यों? सब अपने में ही आनन्द पाते हैं, जिसको यह आनन्द उपलब्ध नहीं, वही उसकी खोज में इधर-उधर भटकेगा।

भविष्य की आशा भी एक प्रकार का भटकना ही है, मैं भी इसी आशा

में भटक रहा था और प्रसादजी की बात समझना नहीं चाहता था। पर प्रसादजी-जैसे निर्मम और निर्लेप व्यक्ति का वैसा कहना स्वाभाविक ही था।

जो कोई किसी की आशा करता है, वह अपने साथ प्रवंचना करता है। जो भविष्य पर आस्था रखता है, वह अपने अंतःकरण की दुर्बलता प्रकट करता है। जो अपनी कृति पर अविश्वास करेगा, वही अपनी कीर्ति चाहेगा। जो अपनी करनी से प्रसन्न नहीं है, संसार में उसे कभी प्रसन्नता नसीब न होगी। बनारसी रंग से प्रसादजी का एकमात्र यही आशय था, किंतु मैं इसे समझना नहीं चाहता था। दुर्बलता तो मेरे अंदर थी।

मैंने प्रसादजी का सदैव यही बनारसी रंग देखा। बाहर से उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुस्कान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहारपटुता और मैत्री से मोहित होता। किन्तु उनके इस दिव्य, किन्तु मोहक बाह्य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनन्द माननेवाले, कीर्ति की लिप्सा न रखनेवाले, भली-बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहनेवाले निस्पृह तथा दिव्यतर प्रसादजी को बहुत कम लोगों ने देखा। मै जब उन्हें पहचानने के योग्य हो रहा था, इतने में वे स्वयं ही न रहे!

मेरे पास प्रसादजी के जाने कितने संस्मरण हैं, कितनी स्मृतियाँ हैं। अपने जीवन का कितना आनन्द मैंने उनके सपर्क से प्राप्त किया, मैं नहीं कह सकता। उसे कहना उसका मूल्य घटाना होगा। पर एक बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता। प्रसादजी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान् कवि थे। मैथिलीशरण जी का काव्य करुणा के रग से ओत-प्रोत है, शक्ति का संकल्पात्मक स्रोत उसमें उतना नहीं। 'प्रियप्रवास' के हरिऔधजी के संगीत में पौरुष है, किन्तु अपने समय की संकोच-शील प्रवृत्तियों की छाया भी उसमें पड़ी हुई है। 'निरालाजी' का पौरुष नारी के स्नेह से ही नहीं, सम्मान से भी संबद्ध होने के कारण 'रोमैण्टिक टाइप' का है। श्री सुमित्रानन्दन पंतजी के काव्य में (मेरा मतलब उनके सर्वश्रेष्ठ 'पल्लव' काव्य से है) बाल्यसुलभ स्निग्धता और निर्मलता है, किन्तु प्रसादजी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसादजी को हिन्दी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्ति-वादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ। प्रसादजी का साहित्य सौन्दर्य और

कल्पना-प्रधान होता हुआ भी उनके काव्य-प्रतीक वास्तविक जीवनरस से अभिषिक्त हैं। जीवन से वैराग्य, तटस्थता और निषेधों का प्राबल्य हम उनमें कहीं नहीं पाते। छायावाद, जिसके ये आविर्भावक थे, उनकी पुरुष-वृत्ति का साधक हुआ है। नारी और पुरुष दोनों में शक्ति की एक ही तरंग समान रूप से भरने के कारण प्रसादजी में किसी प्रकार का मानसिक स्खलन या दुर्बलता नहीं देख पड़ती। स्वस्थ स्त्री और पुरुष जैसे और कुछ होते हैं, वही प्रसादजी के काव्य में हैं। और चित्रण में भी प्रसादजी मनोवैज्ञानिक यथार्थता की ओर निरंतर बढते गए हैं, जिसका विकास उनके अंतिम काव्य-ग्रन्थ 'कामायनी' में बड़े उत्तम रूप से हुआ है।

प्रसादजी और प्रेमचन्दजी एक दृष्टि से एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेमचन्दजी का साहित्य मुख्यत दु:ख के आधार पर स्थित है। दु:ख का बोध करा देना ही शक्ति का स्रोत बहा देना है। उनका यही मूलमंत्र था। (यद्यपि दु:ख या दैन्य का परिचय कराने में वे सब जगह सफल नहीं हुए) प्रेमचन्द जी ने आनन्द के विधानात्मक पक्ष की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत प्रसादजी संस्कृत और स्वस्थ नारी और पुरुष की शक्ति का रहस्य ही प्रकट करते रहे। शक्ति का परिचय करा देना ही दु:ख का उच्छेद कर डालना है। उनका यही विधान पक्ष था। जहाँ तक रूढि है, वहाँ तक शुद्ध शक्ति नहीं है, इसलिए प्रसादजी रूढियों का तिरस्कार करके एकमात्र शक्ति के ही साधक हुए। इस साधना में उनके समान सफल साहित्यकार मुझे इस युग में कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। भारतवर्ष के इने गिने आधुनिक श्रेष्ठ साहित्यकारों में प्रसादजी का पद सदैव ऊँचा रहेगा, इसमें तो सन्देह ही क्या है, किन्तु मुझे कहना यह है कि अपने उद्देश्य के प्रति ऐसी एकनिष्ठा मैंने किसी आधुनिक कलाकार में नहीं देखी। इसे आप बनारसी रंग कहें, या काशी की महिमा कहें, या 'प्रसादजी' की अपनी सूझ कहें, संस्कृति कहें, जो कुछ चाहें, कहें।

आज वह बनारसी रंग कहाँ है, वह काशी की महिमा कहाँ है, शक्ति का एकनिष्ठ उपासक वह आधुनिक शैव कहाँ है? हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नेता, मेरे सम्मानित मित्र 'प्रसादजी' कहाँ हैं? हार मानकर कहना पड़ता है 'प्रसादजी' अब नहीं रहे!

(१६३७ नवम्बर)

साहित्यिक व्यक्तित्व

प्रसादजी के न रहने पर उनके प्रेमियों की आँखों में आँसू आना तो स्वाभाविक ही है, किन्तु इतने ही से उनके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। हमारे लिए यह भी उचित है कि जहाँ तक हो सके, शीघ्र आँसू पोंछ कर हम उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व की भी थोड़ी-सी रक्षा कर लें। उनके जीवन-काल में यदि हम उनके प्रति अकृतज्ञ रहे तो उतनी हानि नहीं, किंतु अब जब अमरों में उनकी गणना होने जा रही है, तब यह आवश्यक है कि यह देव-ऋण तो हम चुका ही दें। हमारे साहित्य मे उनका अमर स्थान है, किंतु वह क्यों है, यह स्पष्ट कर देना ही उक्त ऋण चुका देना है। उन्हें हम नवीन युग का प्रतिनिधि मानते हैं तो किस हैसियत से, यह बात प्रकट करनी ही होगी. अब हम उनके प्रति किसी द्विअर्थक शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि दिव्यात्माओं का स्वरूप आईने की तरह पारदर्शी ही होता है। उन्हें शाब्दिक मलिनता से स्पर्श करना उचित नहीं। इसलिए हमें सचेत होकर, विना किसी व्यतिक्रम के, जो कुछ उनका प्राप्य है, उन्हें दे देना चाहिए।

किसी साहित्य में नवीन युग का सूत्रपात करने के लिए किसी व्यक्ति में कुछ तो विशेषता होनी ही चाहिए। प्रसादजी की यह विशेषता थी कि वे कुछ विशेष आदर्शों के उपासकयुग में, नवीन वस्तुस्थिति का,नये युग की स्वस्थ मनुष्यता का, संचार करनेवाले प्रथम पुरुष थे। उन्होंने अपने समय के आदर्शों की सीमा को, जो संकुचित हो रही थी, इतिहास और मनोविज्ञान की सहायता से बढ़ाने, अथवा न बढ़े तो तोड़ने की चेष्टा की; इसलिए वे इस युग के सब से पहले विद्रोही कवि हुए।

प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों का मुख्य दार्शनिक प्रयोजन यह है कि हमारी संकुचित चेतना का विस्तार हो और हम रूढ़िबद्ध विचार-शृंखला को छोड़कर व्यापक मानवीय स्वरूपों को देखें और इतिहास के प्रकाश में मनुष्यों के उठने-गिरने के हेतुओं को समझकर किसी व्यक्ति में यों ही उच्चता और नीचता का आरोप न कर लें। किसी की परिस्थितियों को समझना ही मुख्य प्रयोजनीय वस्तु है, उसके प्रति ईर्ष्या-द्वेष कोई वस्तु नहीं। यह उदारता बौद्ध

साहित्य के अध्ययन से आई जिसमें मनस्तत्व का अक्षय भंडार भरा हुआ था ।

सच पूछिए तो यह उदारता भी स्वत. कोई लक्ष्य नहीं थी। कम से कम प्रसादजी के लिए तो वह नवीन समाज के स्वस्थ निर्माण में सहायक होने की साधना भर थी। यह उनके नाटकों की बात है और उनकी कविता की, जो रहस्यवाद कहलाती है, बात यह है कि उनमें पहली बार स्वस्थ और वास्तविक शृंगार रस का प्रवेश हुआ। प्रकृति के रमणीक दृश्यों में किसी प्रेमी की आभा, नारी और पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण में दिव्य सौन्दर्य का प्रकाश और विकर्षण मे प्रकृति का उतना ही प्रशस्त क्षोम, यही वह परिष्कृत शृङ्गार है जिसकी प्रतिष्ठा प्रसादजी ने एक ऐसे नीतिवादी युग में की जिसमें नारी और पुरुष का संबंध एक ओर महाकाव्योचित औदात्य खो चुका था और दूसरी ओर मानवोचित सौष्ठव और सहज प्रवेग भी खो कर जीवन के बाहर की वस्तु बन रहा था। किन्तु जीवन की वह वास्तविकता क्या नाक-भौंह सिकोड़ने मात्र से दूर होती? हमारे नित्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में जो इसके विकृत रूप देखे जाते हैं, वे यदि किसी प्रकार कम हो सकते हैं तो शुद्ध शृंगार की ही प्रतिष्ठा से, वह शृङ्गार जो पूर्ण परिष्कृत पुरुषत्व और नारीत्व का नित्य धर्म है। प्रसादजी के पहले ऐसे खुले हुए विचार किसी ने नहीं व्यक्त किए, न किसी ने इस वस्तुस्थिति का इतना सूक्ष्म, रहस्यमय और परिष्कृत रूप ही उपस्थित किया।

यह वस्तुस्थिति न वाह्य त्याग और संकोच में है, न यह वाह्य उत्तेजना या उपभोग में ही है। यह तो वस्तु का सहज स्वरूप ही है। इसी सहज स्वरूप को प्रसादजी ने अपने कल्पना-बल से विशद आध्यात्मिक रूप दे दिया है। जो लोग प्रसादजी को रूप और विलास का ही कवि मानते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सुख और दुःख, संयोग और वियोग में समान रूप से विशद आनन्द की सृष्टि करनेवाला कवि, और इससे भी अधिक दोनों को समता में जीवन की पूर्णता माननेवाला कवि किस रूप और किस विलास से आकृष्ट हो रहा है। वह तो एकमात्र प्रेम वस्तु से ही आकृष्ट हो रहा है, जो मानव-जीवन की प्रधान वास्तविकता है। प्रेम की वास्तविकता की स्वीकृति हमारे साहित्य के इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना है। यहाँ से हमारा साहित्य विधि और नीतिवादी कृत्रिम प्रतीकों को छोड़कर

सहज आनन्द की ओर प्रवाहित हुआ। प्रसादजी और परवर्ती छायावादियों ने इस प्रवाह को उच्च मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसमें आध्यात्मिक आभा भर दी। यह उत्थान युगप्रवर्तक था और इसका आरम्भ प्रसादजी से ही हुआ।

भले और बुरे, पुण्य और पाप, देवता और दानव, दुःख और सुख, प्रसादजी के लिए एक सिक्के के दो पहलू भर हैं। दोनों इस जगत्-काव्य के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। विना एक के दूसरे की सत्ता ही नहीं है। कवि न तो देवता का भक्त है, न दानव का दुश्मन। उसके लिए तो दोनों उपयोगी हैं, दोनों वरावर हैं। यह उनका तात्विक विचार था और इस तात्विक विचार को हम वस्तुस्थितिमूलक दर्शन का हिन्दी में प्रथम प्रवेश कह सकते हैं। इसमें नवीन मनोवैज्ञानिक प्रसार और बौद्धिक उपक्रम की स्पष्ट झलक है। वही 'जनसत्तात्मक' विचारधारा की आधारशिला बनी जो प्रसादजी के साहित्य में मिलती है, जिसमें स्त्री-पुरुष की समता, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और समानाधिकार के आदर्श निहित हैं। आज तो वे ही अपने को वस्तुवादी कहते हैं जो आधुनिक अशान्त जीवन के प्रवाह में वहते हुए दैनिक घटनाओं का चित्रण करते और प्रायः उत्तेजना, स्थूल मनोभाव या अशान्ति में ही कथाक्रम को चलाते और समाप्त करते हैं। किन्तु वस्तुवाद की यह परिभाषा अतिशय सीमित और संकुचित है। वस्तुवाद एक काव्यशैली भी है और एक जीवनदर्शन भी। गोर्की का जीवनदर्शन वस्तुवादी है, किन्तु उसकी काव्यशैली 'रोमैण्टिक' है। प्रसादजी की काव्यशैली भी कल्पना-प्रधान है, किन्तु उसमें युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों और मानवीय वास्तविकताओं का भी कम प्रवेश नहीं है। प्रसादजी का दर्शन रहस्यवादी, उनकी काव्य-प्रणाली रोमैण्टिक और उनकी कथावस्तु का मूल वस्तून्मुखी है, यह कहना अधिक सगत होगा।

प्रसादजी का वस्तुवाद उत्तेजक कोटि का नहीं है, वह उच्च कोटि की मानसिक साधनाओं और अनुभूतियों पर अवलंवित है। यदि कहें कि वह वस्तुस्थिति भी कुछ काल्पनिक आदर्शों पर स्थित है और वास्तविक वस्तुस्थिति तो स्थूल, दृश्य जगत् ही है, तो यह वात कहते नहीं वनती। कोरा कायिक प्रेम तो बर्बर युग की वस्तु है। उसका मानसिक और सांस्कृतिक परिष्कार प्रत्येक युग अपनी-अपनी दृष्टि से करता आया है। साहित्य में हम

इसका परिचय सभी समयों में पाते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विशेष युग में पूर्व युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप स्थूल यौन-आकर्षण को प्रधानता दी गई हो अथवा किसी अन्य में ह्रासोन्मुख विलासिता के लक्षण प्रमुख हो गए हों। पर इन अवसरों को छोड़ देने पर हम साहित्य में आरंभ से ही परिष्करण का सांस्कृतिक उद्योग पाते हैं। प्रसादजी ने भी इस उद्योग में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने हमारी दृष्टि के अस्वाभाविक संकोचों को दूर किया और व्यापक मानवीय मनोभाव प्रतिष्ठित किए। 'सु' और 'कु' के रहस्यों का इतिहास में अनुसंधान किया और चुप हो रहे। केवल परिस्थिति ही मनुष्य को भला-बुरा बनाती है। इनके अलग-अलग श्रेणी-विभाग उनकी दृष्टि में नैतिक जड़ता-मात्र थे। इसी जड़ता से हमारा उस समय का 'आदर्शवादी' साहित्य छूट नहीं पाया था। प्रसादजी ने उसे छुड़ाने की चेष्टा की और यदि हमारी आज की नजर पहलेवालों की नजर से कुछ साफ है, तो इसका अधिकांश श्रेय प्रसादजी के युगप्रवर्त्तक उद्योगों को ही है।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि के विस्तार के साथ ही प्रसादजी ने सामाजिक क्षेत्र में भी नये स्वातन्त्र्य और नवीन आदर्शों का प्रवेश कराया जिनकी झलक हम विशेषकर उनके उपन्यासों में देखते हैं। यद्यपि प्रसादजी के आदर्श, युग की प्रगति के अनुकूल, उनकी स्वतंत्र विचारणा के परिणाम थे, किन्तु यदि हमें पाश्चात्य विचारकों से तुलना करनी हो तो हम कहेंगे कि प्रसादजी के सामाजिक आदर्श फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के पश्चात् प्रतिष्ठित होनेवाले समता और स्वतंत्रता के आदर्शों से मिलते-जुलते हैं। फ्रान्स के विक्टर ह्यूगो और इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मिल की विचारणा के बहुत निकट प्रसादजी की सामाजिक विचारणा है इसका कारण मुख्यतः भारतीय परिस्थिति और तत्कालीन यूरोप की समानता ही है। एक उदार जनसत्तात्मक भावना, और परंपरागत आभिजात्य का विरोध प्रसादजी के कल्पनाशील, नवोन्मेषशाली साहित्य की आधारभूमि है।

इस वस्तुस्थिति तक पहुँचने की सीढ़ियों पर भी एक दृष्टि डाल लें। जो संकीर्ण और कलाहीन संस्कृति उनके आगमन के समय हिन्दी में थी, वह हममें से बहुतों को मालूम ही है। जो हम अपने घरों के गलीज और मनों में अर्द्ध-चेतन उत्साह और अर्द्ध-निद्रित अज्ञान लेकर अचानक महाराणा प्रताप से सहानुभूति प्रकट करने निकल पड़े, तो सहसा कहाँ पहुँचे, इसका पता हम

नहीं बता सकते। कुछ सौन्दर्य, कुछ साधना की सामग्री हमारे पास भी है, हमारे आसपास चारों ओर भी है, और सहानुभूति प्रदर्शित करने की अपेक्षा कुछ वास्तविक कार्य करने को अपने घर में भी है, यह बात हम भूल ही गए थे। पहले पहल प्रेम का पुट देकर हमारी दैनिक परिस्थिति को, रात की उजियाली और कलियों की मुस्कान को, ताराओं की दमक, लहरों की उठान और ऐसी न जाने कितनी वस्तुओं का सौन्दर्य दिखा कर एक नवीन वस्तु-स्थिति की पहली प्रेरणा उत्पन्न की। यहाँ 'वस्तुस्थिति' का प्रयोग किसी संकीर्ण अर्थ में मैं नहीं कर रहा हूँ। यहाँ उसका प्रयोग नीति, विवेक और वैराग्य की कृत्रिम धारणा और तज्जन्य कला-अभिव्यंजना के विपरीत प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द के सहज आध्यात्मिक प्रवाह के लिए किया जा रहा है, जो उच्चतर कला की प्रेरक है। यह सारी प्रकृति किसी सुन्दरतम के हाथ की सजाई, उसी प्रियतम के द्वारा उपहार में दी गई है, यह रहस्य उन्होंने ही बताया और यह बताना कोई साधारण बात नहीं थी। यह साहित्य में एक नई दृष्टि का उन्मेष था। इससे सर्वप्रथम एक हलकी जिज्ञासा, कौतूहल, सौन्दर्य-चेतना, फिर कला की अभिज्ञता क्रमशः उत्पन्न हुई और हम एक युग को पार करने लगे। तत्काल प्रसादजी मनोविज्ञान की भूमि में, बौद्ध साहित्य में, प्रविष्ट हुए और वहाँ से हमारे लिए सुप्रसिद्ध करुणा और अहिंसा आदि विभूतियाँ लाए जिनका प्रयोजन धार्मिक नहीं, विशुद्ध मनो-वैज्ञानिक ही था। मनोभावों के विकास के लिए इन वृत्तियों की कितनी आवश्यकता है, यह प्रसादजी के नाटकों में देखने को मिलता है। और इन अन्वेषणों के सिलसिले में प्रसादजी ने सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु एक और दी --नारी जो पुरुष की उद्धारक है। यह अभिज्ञता यद्यपि उनकी पहली कृतियों से भी होती है, पर कामायनी में पहुँचकर उसकी पूरी परिपुष्टि हो जाती है। आप पूछेंगे कि क्या यह कोई वस्तुस्थिति है, यह भी तो एक आदर्श ही है। इसका उत्तर यही है कि नारी के प्रति किए गए पुरुष के शताब्दियों के अत्याचार के परिणामस्वरूप नारी की श्रेष्ठता भविष्य युगों में बहुत दिनों तक वस्तुस्थिति ही रहेगी। यह प्रसादजी के ऐतिहासिक अध्ययन से प्राप्त हुई वस्तुस्थिति कही जा सकती है। अस्तु, इस ओर उनके साहित्य में मनोविज्ञान की व्यापकता आती गई, उस ओर उनके व्यक्तित्व में चित्त की विक्षेप-रहित स्थिति का आध्यात्मिक उत्कर्ष समाता गया। दोनों ही कार्य-

कारण रूप में अथवा युगपत ही हुए और 'कामायनी' में उनका पूर्ण विकास हुआ है। इसलिए 'कामायनी' अपने युग की सर्वश्रेष्ठ कृति हुई है।

कामायनी काव्य अपने पूर्व युग की कृतियों से अनेक विशेषताएँ रखता है। प्रथम, उसका मनोवैज्ञानिक आधार सुविकसित और प्रौढ़तर है तथा उसमें एक व्यापक अतर्निहित दार्शनिक निरूपण अपने लिए स्थान बना सका है। यह निरूपण प्रसादजी की समन्वयशील विचारणा का प्रतिष्ठापक है। द्वितीय, कामायनी में पूर्व युग की नीतिवादी प्रतीक व्यंजना के स्थान पर आनदवादी आध्यात्मिक व्यंजना की स्थापना है। तृतीय, इसमें पूर्व युग की 'प्रवृत्ति और निवृत्त' की बँधी हुई, आदर्शवादी लीक को तोड़कर जीवन-प्रयोगों का विस्तार दिखाया गया है। यह विस्तार नवीन यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक है। चतुर्थ, रहस्यवाद और प्रेमाख्यानक काव्य के भीतर प्रसादजी ने नवीन सास्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर परिमाण में कामायनी-द्वारा किया है। और पचम, केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी कामायनी का स्थान आधुनिक हिन्दी में अत्यन्त ऊँचा है।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ सामयिक साहित्य और संस्कृति का भी प्रसादजी ने अच्छी तरह अवलोकन किया था, जिनका उपयोग उन्होंने अपने उपन्यासों और कितनी ही आख्यायिकाओं में बड़ी योग्यता के साथ किया है। प्रसादजी ने स्त्री-पुरुष के समानाधिकार, मानव-मानव के समानाधिकार और स्वातंत्र्य के हामी थे और इस संबंध में उनके विचारों से सुप्रसिद्ध दार्शनिक मिल के विचारों का अद्भुत मेल दिखाई देता है। इसका यह आशय नहीं कि प्रसादजी पर मिल का प्रभाव पड़ा था। सभव है, प्रसादजी ने मिल का अध्ययन भी न किया हो (वे दार्शनिक अध्ययन के लिए भारतीय ग्रंथों से बाहर प्राय. कम जाते थे, केवल साहित्य की कुछ पाश्चात्य चीजें पढ़ा करते थे), किन्तु दोनों की परिस्थितियाँ एक-सी थीं। दोनों ही मध्यवर्ग के बौद्धिक उत्थान और जनसत्तात्मक प्रवृत्तियों के युग और वातावरण में उपस्थित थे। अतः सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र में दोनों का विचारसाम्य स्वाभाविक ही है। ह्यूगो और वाल्टेयर के आदर्श भी प्रसादजी के अनुकूल थे। प्रसादजी की संस्कृति पौरुष-गुण-संपन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई

संदेश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही संदेश है। दुखों और सुखों में मनुष्य की संपूर्ण वस्तुस्थिति में यह शक्ति का ही प्रवाह वहता रहे, यही उनकी एकान्त साधना थी। इसीलिए हम उन्हें नवयुग के प्राणों का कवि कह सकते हैं। यही संक्षेप में उनका साहित्यिक व्यक्तित्व है।

(१९३७, दिसम्बर)

नवीन दार्शनिक आयोजन

(प्राकृतिक अध्यात्म का शिलान्यास)

प्रसादजी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि और साहित्यस्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्त काल के ऐतिहासिक और सास्कृतिक अन्वेषणों पर उनके निबंध पाठक पढ़ चुके हैं। उनका महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वे इतिहास की सूखी रूप-रेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग चढ़ा देते हैं। व्यक्तियों और समूहों की कृतियों का ही नहीं, उन विचार-धाराओं का भी वे उल्लेख करते हैं, जिनका सामयिक जीवन के निर्माण में हाथ रहा है। इस प्रकार प्रसादजी ने इतिहास के अस्थिपंजर को कार्य-कारणयुक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है, जिससे उनका अध्ययन करने में एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता है। वे इतिहास को मानवनिर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियों का केन्द्र सम-सामयिक दर्शन को मानते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन का अंत.प्रेरण दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मान कर वे इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। कोरी भौतिक घटनाओं का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते।

प्रसादजी की इस दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनों ही राष्ट्रीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गए हैं, कहीं भी इनका विछोह नहीं होने पाया। जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है, वहाँ मानव-जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि अवश्य है और जहाँ कहीं किसी राष्ट्रीय मानवीय उद्योग का आकलन है, वहाँ भी दर्शन का साथ कभी नहीं छूटा। 'काव्य और कला' पुस्तक में प्रसादजी की साहित्यिक समीक्षाओं का संग्रह है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया ही है। इसलिए हम देखते हैं कि प्रसादजी ने इन निबंधों में भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युग-

पत संबंध तो स्थापित किया ही है, प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के सम्बन्ध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओं के साथ मुख्य-मुख्य काव्यधाराओं का समीकरण करके इन दोनों का एक इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने रक्खा है।

प्रसादजी की ये उद्भावनाएँ इतनी मार्मिक हैं, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है, और साथ ही इनकी मनोवैज्ञानिक विवृत्ति इतनी सुंदर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा यह भूल जाते हैं कि ये अधिकांश एकदम नवीन हैं किसी क्रमागत विचार-परिपाटी से इनका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नवीन होना इनका दोष नहीं है, गुण ही है; क्योंकि परम्परागत शैली के अनुयायी तो केवल लीक पीट रहे थे। जब उन लीक पीटनेवालों से हिन्दी का कल्याण होता नहीं दीखा और नव-शिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शान्त नहीं हुई, तभी तो इस प्रकार की विचार धाराओं और व्याख्याशैलियों की ओर प्रसादजी-जैसे दो-चार इने-गिने विद्वानों की अभिरुचि हुई।

किन्तु परम्परागत व्याख्याशैली से दूर हटकर भी प्रसादजी ने प्राचीन सांकेतिक शब्दावली का, वह साहित्यिक हो या दार्शनिक, त्याग कहीं नहीं किया, अपितु अपनी दृष्टि से उसकी यथातथ्य व्याख्या ही की है। न उन्होंने उन पारिभाषिक शब्दों का अनुचित या अन्यथा प्रयोग ही किया है, जैसा कि आधुनिक असंस्कृतज्ञ करने लगे हैं। इसका कारण यही है कि प्रसादजी ने दर्शन और साहित्य-शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन किया था और कहीं भी शाब्दिक खींचतान या अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी उपपत्तियाँ सब को एक-सी मान्य न हों, किन्तु जिन्हें वे मान्य न हों, वे भी उन्हें अशास्त्रीय नहीं कह सकते; क्योंकि उनका आधार शास्त्र ही है। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छान कर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।

अब मैं प्रसादजी की उन उपपत्तियों को जो इस पुस्तक में हैं, सत्तेप में उपस्थित करके ही आगे बढ़ूँगा। 'काव्य और कला' निबंध में प्रसादजी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं। साहित्य-शास्त्र में

काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयभू' यह श्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गये हैं। किन्तु जहाँ मान्यता की बात आती है, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्रों में इसको अर्थवाद ही मानते हैं, सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं करते। किन्तु प्रसादजी इसे सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि पश्चिमी विचार-प्रणाली के अनुसार जहाँ मूर्त और अमूर्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है, काव्य को मूर्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त के लिए ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गई हो, किन्तु भारतीय विचारधारा मे ब्रह्ममूर्त भी है और अमूर्त भी, अतः मूर्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं कह सकते।

यहीं प्रसादजी ने काव्य की मार्मिक व्याख्या की है। 'काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है'। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएँ हैं एक काव्य-धारा और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समझ रखना चाहिए कि इन दोनों मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों ही आत्मा के अखंड सकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलूमात्र हैं। कुछ लोग श्रेय और प्रेय भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते हैं, किन्तु प्रसादजी का स्पष्ट मत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रेय रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य में प्रेय रूप की प्रधानता है, किन्तु श्रेय और प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय में परोक्ष रूप से श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य को संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

इस प्रकार मूर्त और अमूर्त की द्विविधा हटा कर प्रसादजी ने श्रेय और प्रेय के झगड़े को भी साफ कर दिया है। इसका यह आशय नहीं कि वे काव्य और शास्त्र में कोई अंतर नहीं मानते! उन्होने न केवल इनका व्यावहारिक अंतर माना है, प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का भी विवरण दिया है, जिसमें इन दोनों विषयों की शिक्षा पृथक्-पृथक् दो केन्द्रों में दी

जाती थी। शास्त्रीय व्यापार के संबंध में प्रसादजी स्वयं कहते हैं, 'मन सकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है।'

किन्तु काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मान लेने और संकल्पात्मक अनुभूति की उपर्युक्त व्याख्या कर देने भर से समस्या का समाधान नहीं होता, बल्कि यहीं से शंकाएँ आरंभ होती हैं। सबसे पहली शका प्रसाद जी ने स्वयं उठाई है और उसका उत्तर भी दिया है। वे लिखते हैं, "कोई भी प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है?" उत्तर वे यह देते हैं—"इसलिए तो साथ ही साथ 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है...जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।"

'असाधारण अवस्था' का इस प्रकार निर्वचन कर प्रसादजी ने काव्य और उसकी व्याख्या को रहस्यात्मक पुट दिया है। वह असाधारण अवस्था क्या है, उसके स्वरूप का अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य वह अनुभवजन्य है, किन्तु युगों की समष्टि अनुभूतियों मे अन्तर्निहित होने के कारण वह इतिहास की वस्तु भी है। इतिहास के अनुशीलन से उसका आभास हम पा सकते हैं।

प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में उस असाधारण अवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन भी किया है। उनके इस अनुशीलन से आत्मा की उस असाधारण अवस्था का, जिसे मननशील सकल्पात्मक अनुभूति या काव्यावस्था कहते हैं, जो परिचय प्राप्त होता है, हम बहुत संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। यह अवस्था आत्मा की है, इसलिए स्वभावतः अवस्था के साथ-साथ

आत्मा सम्बंधी विभिन्न युगों की धारणाओं का परिचय प्रसादजी देते गए हैं। आत्मा का विशुद्ध अद्वय स्वरूप आनंदमय है और उस अद्वयता में संपूर्ण प्रकृति सन्निहित है, यह प्रसादजी की सुदृढ़ धारणा और उपपत्ति है। आदि वैदिक काल में इस आत्मवाद के प्रतीक 'इन्द्र' थे और यही धारा शैव और शाक्त आगमों मे आगे चल कर वही। यही विशुद्ध आत्मदर्शन था जिनमें प्रकृति और पुरुष की द्वयता विलीन हो गई थी। शैव और शाक्त आगमों में जो अन्तर है, उसे भी प्रसादजी ने प्रकट किया है—'कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को, 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे, वे शैवागमवादी कहलाए। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्तितरग जगत् में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए।' आत्मा का यही विशुद्ध अद्वय प्रवाह परवर्त्ती रहस्यात्मक काव्य में प्रसरित हुआ इसीलिए प्रसादजी रहस्यात्मक काव्यधारा को ही आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शक्ति और आनंद-प्रधान धारा थी जिसमें आदर्शवाद, यथार्थवाद, दुःखवाद आदि बौद्धिक, विवेकात्मक और प्रसादजी के मत से अनात्मवादों का, स्वीकार नहीं था। दु:ख या करुणा के लिए वहाँ भी स्थान था, किन्तु यहाँ वेदना आनन्द की सहायक और साधक बन कर ही रह सकी।

इससे भिन्न दूसरी धाराओ के कई विभाग प्रसादजी के किए हुए हैं, किन्तु स्थूल रूप से उन्हें हम विवेकवादी या आत्मवादी धारा के अतर्गत ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं धाराओं के प्रतीक वैदिक काल में 'वरुण' (जो एकेश्वरवाद के आधार हुए और जिनकी गणना असुरों मे की गई) और परवर्त्ती काल मे अनात्मवादी बौद्ध थे जो चैत्यपूजक हुए। पौराणिक काल में इसी दु:खवादी विचारधारा की प्रधानता थी और राम इसी विवेक पक्ष के प्रतिनिधि थे। कृष्ण के चरित्र में यद्यपि आनन्द की मात्रा कम न थी, किन्तु मुख्य पौराणिक विचारधारा—दु:खवाद—से उनकी चरित्र-सृष्टि भी आक्रान्त है। शाकर वेदात बौद्धों के दु:खवाद में संसार से अतीत सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। यह आदिम आर्य आत्मवाद की दु:ख से मिश्रित धारा है। यद्यपि इसमें आत्मा की अमरता और आनन्दमयता का संदेश है, किंतु संसार मिथ्या या माया की आर्त पुकार भी है परवर्त्ती भक्ति संप्रदायों के संबंध में प्रसादजी की धारणा है कि ये अनात्मवादी बौद्धों

के ही पौराणिक रूपान्तर हैं। अपने ऊपर एक त्राणकर्त्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत दर्शन का ही परिणाम है। यद्यपि प्रसादजी का यह मत है कि 'मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है', किंतु भक्ति सम्प्रदायों में प्रेरणा दृढ़मूल नहीं हो सकी और दुःखवादी या रहस्यवादी विचारों ने उस पर कब्जा कर लिया। कबीर आदि निर्गुण संत भी दुःखवादी ही थे, समय की आवश्यकता से सच्चे आनन्दवादी रहस्यवादियों को उनके लिए स्थान छोड़ना पड़ा।

प्रसादजी ने केवल ये आरोप ही नहीं किए, इनके लिए प्रमाणों की भी व्यवस्था की है। वैदिक काल के सम्बंध में वे लिखते हैं – 'सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा (इन्द्र की उपासना) का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे . आत्मा में आनन्द भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। भारत के आर्यों ने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लासपूर्ण आनन्द का ही उद्देश्य देखना आरम्भ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इन्द्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचारधारा की वैदिक आर्यों में स्वाधीनता हो जाने पर भी कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे ' ..उन व्रात्यों ने अत्यत प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नए-नए तर्कों की उद्भावना की ...वृष्णि-संघ व्रज में और मगध में अयाज्ञिक आर्य, बुद्धिवाद के आधार पर, नए-नए दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं के उत्तराधिकारी वे तीर्थङ्कर लोग थे, जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न, दिगंबर, पानी गरम करके पीने और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलनेवाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे '

इस प्रसग को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं। पाठक मूल में ही उसे पढ़ेंगे। यहाँ इसी के साथ अब भारतीय साहित्य की प्रमुख धाराओं और अगों के सबंध में प्रसादजी की धारावाहिक समीक्षा का साराश उपस्थित किया जाता है, जो उन्होंने काव्य की अपनी मूल परिभाषा को

स्पष्ट करते हुए की है। ऊपर कह चुके हैं कि प्रसादजी रहस्यवाद को आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। यह काव्यात्मक रहस्य-वाद वैदिक काल के 'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तों में अधिकाश उपनिषदों में, शैव शाक्तादि आगमों में, आगमानुयायी स्पदशास्त्रों में, सौन्दर्य-लहरी आदि रहस्यकाव्य मे तथा सहजानन्द के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि आगमानुयायी सिद्धों की रचनाओं में मिलता है बीच में इन रहस्यवादी सप्रदायों के 'बौद्धिक गुप्त कर्मकाण्ड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृङ्खलता से पार कर चुकी थी।' यही अवसर रहस्यवादियों के ह्रास का था। किन्तु फिर भी इस धारा का अत्यन्ताभाव कभी नहीं हुआ। पिछले खेवे भी तुकनगिरि और रसालगिरि आदि, सिद्धों के रहस्य सम्प्रदाय के शुद्ध रहस्यवादी कवि, लावनी में आनन्द और अद्वयता की धारा बहाते रहे। प्रसादजी का यह भी स्पष्ट मत है कि 'वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।' उनके शब्दों में 'वर्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावाद काव्य भी कहते हैं) भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सदेह नहीं।'

यह न समझना चाहिए कि काव्यात्मक रहस्यवाद बस इतना ही है। इतना तो वह तब होता, जब प्रसादजी की दृष्टि पूर्ण साहित्यिक न होकर मुख्यत. साम्प्रदायिक होती। काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है, वहीं आत्मा की सकल्पात्मक प्रेरणा है और वहीं वह 'असाधारण अवस्था' है, जिसे काव्य की—विशेषकर रहस्य-काव्य की—जन्मदात्री माना गया है। जिन काव्यों का प्रवाह आनन्द के ओजस्वी, आध्यात्मिक स्रोत से उद्रिक्त है, दुख जिनमें निमित्त बनकर आया है, लक्ष्य नहीं जो मुख्यतः प्रगतिशील सृष्टियाँ हैं—वे सभी प्रसादजी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अतर्गत आ जाती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक एक प्रधान अंग है। नाटक में रस या आनन्द की प्रधानता मानी गई है। साहित्य के अन्य अग काव्य, उपन्यास आदि तो दु.खान्त हो सकते हैं, किन्तु नाटकों के लिए ऐसी व्यवस्था सर्वमान्य रही है कि उसमें दु खान्त सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

प्रसादजी ने इसका कारण यह बतलाया है कि नाटकों मे आनन्द या रस का साधारणीकरण होता है। प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ हृदय का तादात्म्य करके पूर्ण रस की अनुभूति करता है। वह अभिनीत दृश्यों से एकाकार हो जाता है इसलिए अभिनीत वस्तु में न तो व्यक्तिवैचित्र्य (अद्भुत चरित्र-सृष्टि) के लिए अधिक स्थान माना गया है, न दुखाति-रेक के लिए इसका आशय यह नहीं है कि नाटक में दुःख के दृश्यों के लिए स्थान नहीं है अथवा आनन्द के, रस के, नाम पर श्रेयहीन प्रेय का ही प्राधान्य है। इसका आशय केवल इतना है कि नाटक में आत्मा की संकल्यात्मक, सास्कृतिक प्रेरणाओं की प्रधानता होती है; क्योंकि वे मुख्यतः जनसमाज के आनन्द के साधक होते हैं। आए दिन सिनेमा की दृश्यावली में भी हम इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पाते हैं, यद्यपि उनमें सर्वत्र श्रेय सुरुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता और न उनकी आनन्द धारणा ऊँची मनोभूमि पर उठ पाती है !

प्रसादजी की एक अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार रहस्यवाद में आनन्द के पक्ष की प्रधानता है, उसी प्रकार नाटक में भी। जिस प्रकार भक्ति आदि विवेक और उपासना मूलक दर्शन को अद्वैत रहस्य में स्थान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति की रस में गणना नहीं हो सकती। यह स्पष्ट है इसीलिए कि भक्तिकाव्य के पात्रों और व्यवहारों का नाटक द्वारा रस-रूप में साधारणी-करण नहीं हो सकता। वे पात्र तो उपासना के हैं, उनका साधारणीकरण हो कैसे ! इसलिए वे साहित्यिक अर्थ में नीरस हैं। साहित्यिक रस तो तभी तक है जब तक तादात्म्य की पूर्ण सुविधा है।

इसी तादात्म्य या साधारणीकरण के प्रसङ्ग को लेकर प्रसादजी ने वह अत्यन्त मार्मिक दार्शनिक निष्पत्ति की है जिसके आधार पर उनका सारा ऊर्ध्व-लिखित विवेचन स्थिर है। वह निष्पत्ति पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थिर है। अभिनय देखते हुए दर्शक के हृदय में साधारणीकरण या तादात्म्य के आधार पर जो रसानुभूति होती है, वह साहित्यिक शास्त्र से सर्वथा स्वीकृत है और ब्रह्मानन्द-सहोदर कही गई है। किन्तु साधारणी-करण होता किस वस्तु का है ? अभिनीत पात्रों के प्राकृतिक व्यवहारों और वासनाओं का। इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक वासनाओं का आत्मस्वरूप मे

स्वीकार ही रस का हेतु है—वह रस जो ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्मानन्द-सहोदर प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार करके किन्हीं अलौकिक उपादानों द्वारा नहीं। दार्शनिक क्षेत्र में यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जायगी कि आनन्द की सत्ता को प्रकृतिवाह्य मानने की आवश्यकता नहीं है, प्रकृति का आनन्द-स्वरूप में अवसान ही वास्तविक अद्वैत है।

यहाँ फिर यह कहने की आवश्यकता है कि प्राकृतिक वासनाओं का जो साधारणीकरण रस रूप में होता है, वह श्रेयहीन प्रेय नहीं है, श्रेयपूर्ण प्रेय है। वह प्राकृतिक द्वैत से सयुक्त नहीं है, आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है। उपकरण प्रकृति है, किन्तु आत्मविरहित प्रकृति नहीं। यही रस आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं। इसी अर्थ में प्रसादजी ने काव्य को आध्यात्मिक वस्तु सिद्ध किया है और इसी अर्थ में वे प्राकृतिक सत्ता का आत्मसत्ता में समन्वय करते हैं।

प्रसादजी का यह मन्तव्य है कि आत्मा की यह विशुद्ध अद्वय तरंग जैसी प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रवाहित है, वैसी अन्य साहित्यिक कृतियों में नहीं। उनका कथन यह है कि नाट्य साहित्य में रस, या आनन्द अनिवार्य होने के कारण काव्य की मूल रहस्यात्मक धारा नाटकों में ही प्रवर्तित हुई। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभिभूत हैं। उनमें से एक (रामायण) आदर्शात्मक विवेकवाद की पद्धति पर रचा गया है और दूसरा यथार्थवादात्मक पद्धति पर। दोनों के मूल में विवेक या विकल्प का अंश है। पूर्णत संकल्पात्मक ये कृतियाँ नहीं हैं। आदर्शवाद और इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इस प्रसंग में न करने पर भी प्रसादजी का आशय यही जान पड़ता है। ये शब्द प्रसादजी ने आधुनिक प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में व्यवहृत किए हैं जिसे हम आगे देखेंगे। यहाँ समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आदर्श-वाद में लोकोत्तर चरित्रों और भावों का समावेश प्रसादजी ने माना है और यथार्थवाद में लोकसामान्य घटनाओं, मनोवृत्तियों आदि का। किन्तु ये दोनों ही वाद प्रसादजी की सम्मति में बौद्धिक या विवेकप्रसूत हैं। ये रसात्मक या आनंदात्मक नहीं हैं।

यही नहीं, प्रसादजी का मत है कि पौराणिक साहित्य से लेकर अधिकांश

श्रव्य काव्य (जिन्हें प्रसादजी, ने समयोपयोगी 'पाठ्य काव्य' नाम दिया है) जिनमें कथासरित्सागर और दशकुमार-चरित्र की 'यथार्थवादी' रचनाएँ और कालिदास, अश्वघोष, दण्डि, भवभूति और भारवि का काव्यकाल भी सम्मिलित है, बाहरी आक्रमण से हीनवीर्य हुई जाति की कृतियाँ हैं। इनमें प्राचीन अद्वैत भावापन्न 'नाट्यरस' नहीं है। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नहीं है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।'

संक्षेप में प्रसादजी की मुख्य विवेचना यहीं समाप्त हो जाती है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक ओर आनंद-प्रधान, रहस्यात्मक या रसात्मक और दूसरी ओर विवेक-प्रधान, बौद्धिक या आलंकारिक साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की हैं और उन्हें अद्वैत और द्वैत दर्शन से क्रमशः अनुप्राणित माना है। इस प्रकार का श्रेणिविभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अश्रुतपूर्व है। अवश्य ही ये श्रेणियाँ बहुत दृष्टि से परस्पर नितांत विरोधिनी नहीं है, ऐसी भी संभावनाएँ ध्यान में आती हैं जब ये दोनों ऊपर से एक दूसरे के बहुत निकट आ जायँ, किन्तु इनके मूल स्रोतों, लक्षणों और प्रक्रियाओं में स्पष्ट अंतर है। यद्यपि प्रसादजी ने यह बात कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कही है और ऐतिहासिक शैली से ही विवेचन किया है, तो भी यह कई स्थानों पर ध्वनित होता है कि प्रथम धारा का साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है और दूसरी धारा का साहित्य मुख्यत: ह्रासोन्मुख है। इस विचार से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रचलित धारणाओं में बहुत अधिक फेर-फार की आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के संबंध की प्रसादजी की दार्शनिक उद्भावना—प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं वरं उसमें पर्यवसान अद्वैत है; और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है—आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रों में कम उत्तेजना नहीं उत्पन्न करेगी। यद्यपि विचारपूर्वक देखा जाय, तो इसमें प्राचीन प्रवृत्तिमार्ग, अथवा आत्मा की छत्रछाया में निष्काम कर्म की आधुनिक आध्यात्मिक उपपत्ति से विशेष भिन्नता नहीं है, तो भी प्रकार-भेद तो है ही।

प्रसादजी की सम्मति में अद्वयता की साधना ही मुख्य साहित्यिक और

दार्शनिक साधना है तथा इन दोनों का ही हिन्दी क्षेत्र में प्रायः अभाव है। साहित्य में वे आनन्द सिद्धान्त के पृष्ठपोषक हैं (हिन्दी के भक्ति और शृंगार दोनों ही कालों में वास्तविक आनन्द की न्यूनता थी) और दर्शन में शक्ति-अद्वैतवाद के सदेश-वाहक। आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति मे इन दोनों का समन्वय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य आनुषगिक विचारों का अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उदाहरणार्थ रस के प्रसग में उन्होंने प्रदर्शित किया है कि अलकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य संप्रदाय विवेकमत की उपज हैं, अकेला रस-मत ही आनन्द उद्भूत है। एक अन्य निबंध में आधुनिक साहित्य का हवाला देते हुए आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद आदि कई पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि 'श्री हरिश्चन्द्र ने वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरम्भ किया। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी मे उसी समय हुआ था। .यद्यपि हिन्दी मे पौराणिक युग की पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु.ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।'

यथार्थवाद की यह व्याख्या दार्शनिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है और श्री हरिश्चन्द्र के समय की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का संकेत करती है। अभाव के साथ ही साथ यथार्थवाद का एक भावपक्ष भी है जिसमे दैनिक जीवन के यथातथ्य चित्रण, काल्पनिक के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि, और फ्रायड की सुझाई मनोवैज्ञानिकता का अनुसरण मुख्य हैं। इस यथार्थवाद के साथ ऐतिहासिक भौतिक विज्ञानवाद (Historical Materialism) और नवीन कामविज्ञान का भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। सामाजिक समस्याओं का व्यावहारिक नहीं, बौद्धिक समाधान भी इस वाद की विशेषता है। यह वाद सामाजिक उत्थान की निचली सीढी, नींव अथवा जड़ के समीप रह कर ही

अपनी उपयोगिता प्रकट करता है, ऊँची सांस्कृतिक भूमियों में जाने का कष्ट नहीं करता। उसकी दृष्टि मुख्यतः भौतिक विज्ञान पर स्थित है।

प्रसादजी ने आदर्शवाद के सम्बन्ध में लिखा है—'आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है - जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं —उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य मे ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ में किया जाता है।' यह आदर्शवाद की परिपाटी भी ऐतिहासिक है, सैद्धान्तिक नहीं और मेरे विचार से आदर्शवाद की यह अवनतिशील परिपाटी है। अपनी उन्नत अभिव्यक्तियों में आदर्शवाद अतिशय निस्पृह विज्ञान है। किन्तु प्रसादजी जिस ऐतहासिक आदर्शवाद का उल्लेख करते हैं, अपने स्थान पर वही ठीक है। वाद के रूप में आदर्श को प्रसादजी दु खवाद की ही सृष्टि मानते हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं—'सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता वन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धा त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। स्पष्ट ही यहाँ प्रसादजी ने यथार्थ और आदर्श दोनों ही वादों को विवेकप्रसूत माना है, आनन्दोद्भूत, अद्वैत अथवा सच्चा सास्कृतिक नहीं। इसीलिये प्रसादजी की ये व्याख्याएँ प्रचलित पारिभाषिक व्याख्याओं से कुछ भिन्न हो गई हैं।

प्रसादजी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'सास्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमा तों के बीच की वस्तु है, यहाँ महत्व और लघुत्व के दोनों सीमा तों से प्रसादजी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवादों और यथार्थवाद के सीमान्तों से है। दार्शनिक सीमान्तों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसादजी सिद्धान्ततः मध्यवर्गीय थे। प्रसादजी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्तिसिद्धान्त में दोनों के अश हो सकते हैं, किन्तु दोनों की सीमाएँ नहीं हैं और दोनों की मूल दुःखात्मकता का भी निषेध है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका नाम छायावाद पड़ा और ऐतिहासिक

दृष्टि से इसमें उक्त दोनों वर्गों (आदर्शवाद और यथार्थवाद) की मध्यस्थता के चिह्न भी, संभव है, मिलें, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह अद्वैत पर स्थित है और वे दोनों वाद द्वैत पर। प्रसादजी ने इस अन्तर का ही अधिक आग्रह किया है। उनकी मीमांसा से प्रकट होता है कि छायावाद ऊपरी दृष्टि से तो यथार्थवाद के ही निकट है (ऐसा कहते हुए उनका ध्यान आरंभिक आदर्शवादी छायावादियों की ओर नहीं गया जिनकी एक प्रतिनिधि रचना 'साधना' है), किन्तु प्रसादजी की सम्मति में यथार्थवाद श्री हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' आदि में स्थूल, बाह्य वर्णनों तक ही सीमित रहा, और दुख-प्रधान था। छायावाद में 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी। . वे नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था।'

यह प्रबल नवीन उत्थान किसी मध्यवर्ग के मान का नहीं था। इसके लिए नव्य दर्शन की आवश्यकता थी। यह नवीन दर्शन अद्वैत रहस्यवाद ही है जिसके अनुसार 'विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है जिसकी सौन्दर्यमयी व्यंजना वर्तमान हिन्दी में हो रही है।' छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। प्रसादजी का यह स्पष्ट मत है कि दार्शनिक दृष्टि से वह अभ्युत्थान प्राचीन रहस्यात्मक परंपरा में है जिसे भूले भारत को बहुत दिन हो गए थे।

× × ×

'नाटकों का आरम्भ' और 'रंगमंच' पर प्रसादजी के दो निबंध उनकी उपर्युक्त पुस्तक में हैं जिन्हें मूल में ही अध्ययन करने की आवश्यकता है। यहाँ उनका विवरण अधूरा और अप्रासंगिक भी होगा; क्योंकि उनमें व्याख्येय कोई विशेष वस्तु नहीं है, सब-का-सब विवरणात्मक है।

चार प्रश्न और भी विचारणीय हैं—वे चारों पहले ही निबन्ध (काव्य और कला) के हैं। वे उक्त पुस्तक के मूल प्रश्नों में से नहीं हैं, इसीलिए अब तक छूटे हुए थे। किन्तु अपने स्थान पर वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं। पहला प्रश्न कला की परिभाषा और दूसरा मूर्त और अमूर्त आधार पर कलाओं के वर्गीकरण का है। तीसरा काव्य पर राष्ट्रीय संस्कृति के प्रभाव और अंतिम

प्रश्न काव्य में अनुभूति की प्रधानता का है। 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार पाश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छंद-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य नहीं 'समस्यापूर्ति' की गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल समस्यापूर्ति नहीं है, समस्यापूर्ति या छंद तो उसका वाहन-मात्र है--विना सवार का घोड़ा। पाश्चात्य अर्थ में कला सवार-सहित घोड़ा है, इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक संस्कृति में उसका स्थान स्वभावतः भिन्न होना ही चाहिए।

कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न कला के पाश्चात्य अर्थ में है। चित्र, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि कलाओं के वर्गीकरण का कुछ क्रम आवश्यक है हीगेल ने कलाओं के मूर्त्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है जिसके अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। और सब से नीचे स्थापत्य का स्थान है; क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यावहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता या नीचता का परिचायक नहीं। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुन्दर मूर्ति उससे कहीं श्रेष्ठ कलावस्तु मानी जा सकती है। हीगेल का प्रयोजन इतना ही है कि और सब बातें बराबर हों तो काव्य का स्थान उसके सूक्ष्मतर उपकरण के कारण सर्वोच्च होगा और उसके नीचे क्रमशः संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य कलाएँ होंगी। कला के उत्कर्ष-अपकर्ष की तुलना यहाँ नहीं है। वह तो एक-एक कलावस्तु की समीक्षा द्वारा ही हो सकती है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक विभाग की चर्चा है। इस सम्बन्ध में मतभेद के लिए विशेष स्थान मुझे नहीं दिखाई देता।

तीसरा प्रश्न काव्य साहित्य पर राष्ट्रीय संस्कृति की छाप का है. यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है "यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है। इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी

व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्रीधर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया है।" देशान्तर और जात्यंतर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है इसलिए काव्य के देश-जाति गत कुछ स्थायी उपलक्षण (Conventions) मानने पड़ते हैं।

अन्तिम प्रश्न काव्य मे अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रधानता-विषयक है अभिव्यजनावाद अभिव्यक्ति को ही प्रधानता स्वीकार करता है, किन्तु प्रसादजी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों का उदाहरण सामने रक्खा है—सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का। वे पूछते हैं— कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गए हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यासपटुता नहीं थी जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके ?' प्रश्न का उत्तर भी वे देते हैं 'मैं तो कहूंगा, यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण ...तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्रजी की भक्त रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।'

प्रसादजी का यह उत्तर सोलह आना सत्य है, किन्तु अभिव्यञ्जनावादियों का प्रश्न यह है कि अनुभूति है क्या वस्तु ? एक ओर तो कवि को अनुप्रेरित करनेवाले सृष्टि के वस्तु-व्यापार हैं और दूसरी ओर है कवि का काव्य या अभिव्यक्ति। इन दोनों के बीच में अनुभूति है। यह अनुभूति काव्य-व्यापार में कहीं भी स्वतन्त्र नहीं है। एक ओर वह बाह्य अभिव्यक्ति (संसार और उसके भावादिकों) से प्रतिक्षण निर्मित होती है और दूसरी ओर काव्याभिव्यक्ति में परिणत होती है। केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं। अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचनाकौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचनाकौशल है।

प्रसादजी का इस मत से कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे इसकी छानबीन में उतरे नहीं हैं। हाँ, वे अभिव्यञ्जनावादियों की भाँति अनुभूति को गौणता न

देकर उन्हें मुख्य मानते हैं। अनुभूति का निर्माण कैसे होता है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। वस्तुतः वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते हैं, और अभिव्यञ्जनावादियों की व्यक्त बाह्य प्रक्रियाओं को विशेष महत्त्व नहीं देते। अभिव्यञ्जनावादी क्रोसे और रहस्यवादी प्रसाद में इतना ही मुख्य अन्तर है।

(१९३९ मार्च)

'कंकाल' का समाज-दर्शन

'कंकाल' प्रसादजी का सामाजिक उपन्यास है। उसका समाज आधुनिक, नागरिक और मध्य श्रेणी का है। थोड़े-से अपवादों को छोड़कर जहाँ भिखारियों का जमघट छत पर से फेंकी गई पत्तल के लिए कुत्तों से छीना-छपटी करता है अथवा दूसरी ओर जहाँ कलाविद् विजय अपने चित्रों की कलात्मक चर्चा करता है, अधिकांश आजकल के मध्यवर्गीय समाज नित्यप्रति के जीवन के चित्र आए हैं। इसमे काशी, प्रयाग और हरिद्वार की यात्रा करनेवाले गृहस्थ और साधुसंत हैं, स्कूलों की सेवा-समिति के विद्यार्थी, चौक के वेश्यालय, गिरजाघर और पादरी, कचहरी और मुसाफिरखाने भी हैं। इसमें आर्यसमाज और सनातन धर्म की तकरीरे, सूफियों की कौवाली और ईसाइयों की मिशनरी भी है। यह हमारा सारा सामाज जाना-पहचाना नित्यप्रति हमारे संसर्ग में आनेवाला है। उपन्यास का समस्त वातावरण हमारे लिए परिचित ही नहीं, घरेलू-सा है। हम उसकी हरएक हरकत से दिलचस्पी रखते हैं, प्रत्येक प्रगति मे उसका साथ देते हैं।

कंकाल एक व्यंगपूर्ण उपन्यास भी है। यह प्रचलित समान के दृढ़ आवरण, उसकी शिष्टता और सभ्यता के कवच को भेद कर प्रहार करता है और बलपूर्वक हमारी चेतना को जगा देता है। प्रेमचन्दजी साहित्य में अपनी मीठी चुटकियों के लिए प्रसिद्ध हैं। ये मीठी चुटकियाँ समाज-सुधार के लिए आवश्यक और उपयोगी होती हैं; पर ये मॉडरेट नीति की प्रतिनिधि हैं। इससे भिन्न प्रसादजी की कंकाल की शैली है। अंग्रेजी के आधुनिक प्रख्यात लेखक एच० जी० वेल्स अपने उपन्यासों में जिस तरह की कठोर कटूक्तियों का प्रयोग करते हैं, कंकाल में उनकी मात्रा अधिक नहीं है, पर कंकाल की विशेषता यह है कि इसके व्यंग्य केवल वर्णन प्रसंग में ही नहीं आए हैं, वे उपन्यास की घटनाओं से ध्वनित भी होते हैं, कथानक के भीतर भी निहित हैं। चरित्रों की सृष्टि में ही व्यंग्य है—जातीयता की दृष्टि से सबके सब वर्णसंकर हैं। शुद्ध प्रेम का उसमें कहीं भी नाम नहीं है। वैवाहिक जीवन

की एकोन्मुख पवित्रताक हीं दीख नहीं पड़ती। धार्मिक बिशप साहब 'घंटा' के पीछे पागल हैं। कंकाल के देवनिरंजन कुंभ मेले के सर्वमान्य साधु शिरोमणि हैं, गूँगे के गुड़ की तरह स्वयं ब्रह्मानन्द का रस लेनेवाले तथा अगणित भक्तों को पान करानेवाले हैं, पर श्रीचंद की पत्नी, अपनी बालसहचरी किशोरी की पुत्रकामना पूरी करने का कर्तव्य (!) भी आप ही पालन कर लेते हैं! सेवासमिति का उत्साही और आदर्शवादी छात्र मंगलदेव वेश्यालय से एक युवती की रक्षा करता है, कई महीनों तक उसका संरक्षक बना रहता है और अंत में उसे गर्भवती और निराश्रिता छोड़कर चपत हो जाता है! इस तरह के एक नहीं अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनके चित्रण के भीतर और चरित्र की कल्पना में ही व्यंग्य और विडंबना भरी हुई है, जिसके कारण कंकाल और बौद्धिक बन गया है।

कंकाल के लेखक का प्रयोजन प्रचलित समाज, उसके विश्वासों, उसकी कार्यप्रणालियों और उसके अनर्थकारी बन्धनों (चाहे वे बंधन प्रत्यक्ष हों, मानसिक हों अथवा संस्कार रूप में ही हों) के विरुद्ध जबर्दस्त प्रोपेगेण्डा करना है। समाज की एक भी मान्यता उसमें स्वीकार नहीं की गई—सब की जड़ें हिला दी गई हैं। एक भी ईमानदार आदमी, जिस अर्थ में ईमानदारी मानी गई है, सारे समाज में नहीं है। जिसे सामाजिक पैमाने के अनुसार ऊँच-नीच या कुलीन-अकुलीन मानते हैं, उसकी खिल्ली उड़ाई गई है। सबके कच्चे चिट्ठे खोलकर रक्खे गए हैं। कहीं शाही घराने की महिषियाँ गूजरों के घरों में विराजमान हैं, कहीं सुसभ्य पादरी साहब स्थितिहीना छोकरी के प्रेम-पाश में पड़े हुए हैं। कामना के तीव्रवाही प्रवाह में हिन्दू-मुस्लिम ईसाई जातीयता बही जा रही है। धर्म की समस्त सामाजिक प्रक्रियाएं मटियामेट हो रही हैं। इतिहास के आलोक में कुलीनता का कुहासा साफ हुआ जा रहा है।

एक प्रधान बात जो कंकाल द्वारा पुष्ट की गई और सामने रक्खी गई है, यह है कि ऐकान्तिक आध्यात्मिक साधना को जिसमें संसार के छोड़ने का संदेश है, और निवृत्ति-प्रधान संस्कृति को प्रसादजी आदि से अंत तक अव्यवहार्य और आज के लिए हानिकर सिद्ध करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे आध्यात्मिकता के ही विरुद्ध हैं, किन्तु आध्यात्मिक साधना का वह स्वरूप उन्हें अरुचिकर है। उसके प्रति अनास्था दिखाना भी कंकाल का एक लक्ष्य

है। संन्यासमूलक आदर्शवाद की यह बौद्धिक और यथार्थोन्मुख प्रतिक्रिया है।

इसे हम कंकाल का प्रोपेगेण्डा कहते हैं। इस शब्द से हिन्दी के साहित्यिक डरते-से हैं, क्योंकि इसने प्रेमचदजी को भी बदनाम किया है। पर वास्तव मे यह डर मिथ्या है। प्रत्येक साहित्कार जीवन और जगत्-सम्बन्धी अपने अनुभव और अपनी धारणाए रखता है जो उसकी साहित्यिक कृतियों में प्रतिफलित हुआ करती हैं। जिसके ये अनुभव और धारणाएँ जितनी अधिक दृढ़ होंगी और जो जितने अधिक कौशलपूर्वक उनकी शक्ति समेटकर अपने साहित्य में संकलित कर सकेगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी होगी। जब हम कहते हैं कि Les Miserables संसार के शक्तिशाली उपन्यासों में प्रमुख है, तब हम दूसरे शब्दो में उस प्रोपेगेण्डा की ही प्रशंसा करते हैं जो साहित्य-कला के नियमों के अनुसार उसमें मौजूद है। जिन कृतियों में यह बौद्धिक आयोजन नहीं होता, वे सरस और सुरुचिपूर्ण हो सकती हैं, किंतु उन्हें हम शक्तिशाली नहीं कह सकते। इन विचार-वैशिष्ट्यपूर्ण शक्तिशाली कृतियों का साहित्य में एक अलग ही स्थान है। हाँ, जब वह कृत्रिम और कौशलहीन होकर, अनपेक्षित अवसरों पर आकर अपनी कीमत आप ही कम कर देता है तब उसकी ओर सबकी उँगली उठती है।

परन्तु हिन्दी में यह प्रोपेगेण्डा शब्द इतना बदनाम हो गया है कि उससे बचने की चेष्टा जी-जान से की जाती है। स्वयं कंकाल के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है कि 'कंकाल में सामाजिक, धार्मिक और सासारिक समस्याओं का क्रियात्मक रूप ही अंकित किया गया है, किसी प्रकार का प्रोपेगेण्डा नहीं किया गया है', किन्तु कंकाल में आदि से अन्त तक निहित बौद्धिक प्रयास की ओर से हम आँखे नहीं मूँद सकते और उसके रहते उपन्यास को ऐसी तटस्थता का पद नहीं दिया जा सकता जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। हमारी सम्मति मे ऐसा करना पाठकों के प्रति ही नहीं, प्रसादजी और उनके उपन्यास के प्रति भी अन्याय या अधूरा न्याय करना होगा।

(२)

यह सही है कि 'कंकाल' के प्रोपेगेण्डा को समझने की योग्यता हिन्दी भाषी समाज में अब तक पर्याप्त रूप से नहीं हुई है। कंकाल को इसकी इंतजारी करनी होगी। स्वय वह तथा उसी शैली की अन्य रचनाएँ अपने

लिए क्षेत्र तैयार करेंगी तब काम चलेगा। हमने पुस्तक की एक प्रति अपने एक सुपरिचित उपन्यासों के पाठक महोदय को पढ़ने को दी थी। उनकी उस पर सम्मति जानने को हम विशेष रूप से उत्सुक थे। वे औसत दर्जे के हिन्दी पाठकों के प्रतिनिधि थे, बहुत-सी चीजें पढ़ चुके थे, इसलिए हमें उनकी राय जानने की बड़ी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह भी थी कि हिन्दी के औसत सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा प्रभाव उनपर था, इसलिए उनके मत की और भी प्रतीक्षा थी। मैंने देखा कंकाल के प्रति उनका कोई असाधारण आकर्षण न था। सबके वर्णसकर होने की उन्हें शिकायत थी, 'घंटी' के आचरण को वे आदि से अन्त तक सदोष बतलाते थे। और यदि किसी को अच्छा समझते थे, तो अकेले हरिहरशरण गोस्वामी को!

साधारण पढ़े-लिखे लोग ही नहीं, श्री कालिदास कपूर जैसे शिक्षित सज्जन भी कंकाल के दृष्टिकोण को नहीं समझ सके। यह हिन्दी की साहित्यिक परंपरा का ही परिणाम है। समाज के सामने हिन्दी के जो उपन्यास अब तक आए हैं, उनमें किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। उनमें के अधिकाश के कथानक मिलते-जुलते भी हैं। पात्रों में कुछ अच्छे और कुछ बुरे बना लिए जाते हैं और उनका द्वंद्व दिखा दिया जाता है। अन्त में बुरे का बुरा अन्त हो जाता है या उसका सुधार कर लेते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के आलोचक जैसे होने चाहिए वैसे ही श्री कपूर भी हैं। आचार्य पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस आदर्शप्रधान आलोचना-शैली की सृष्टि की, उसका सम्यक् विकास भी न हो पाया, इतने में ही वे साहित्य की गृहस्थी छोड़कर उससे तटस्थ हो गए। आगे का मार्ग सूना ही पड़ा रहा—जैसी चाहिए प्रगति न हो सकी।

श्री कालिदास कपूर को यह भ्रम हो गया कि अश्लीलता फैलाना कंकाल का उद्देश्य है और उस भ्रम का कारण यही है कि वे हिन्दी उपन्यासों की उस छिछली धारा में ही तैरते रहे हैं जिसमें गहरे पैठने भर को पानी ही नही है। उपन्यासों के अच्छे-बुरे होने की परख अब तक यही रही है कि किसमें कितने उच्च आदर्शों का निरूपण है और किसमें नहीं। किन्तु वे आदर्श समाज की व्यावहारिक स्थितियों का कहाँ तक स्पर्श करते हैं और समाज के दैनिक जीवन में उनका कितना और किस रूप में प्रभाव पड़ रहा है, यह किसी को मालूम नहीं। व्यक्तिगत और व्यैयक्तिक रूप में जो आदर्श उन्नतिकारक

हैं, वे ही सामाजिक सस्था का रूप धारण कर लेने पर किसी समय अत्याचारी और अनुपयोगी भी हो सकते हैं, इसकी कल्पना ही नहीं थी। अश्लीलता क्या है ? किसी उपन्यास में अश्लीलता कहाँ से आरम्भ होती है, श्लील वर्णन कहाँ समाप्त होता है—अश्लीलता स्वयं साध्य बनी हुई है या साधन बनकर किसी अन्य लक्ष्य की ओर हमें ले जाती है, इन बातों की ओर ध्यान देने का किसी को अवसर ही नहीं था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठीजी कहा करते हैं, कि हिन्दी के शृङ्गार-काल के अनेक सुन्दर सकेतात्मक पद्यों की रस-धारा में डाक्टर ग्रियर्सन की आज्ञा से लोग कलुष ही देखने के अभ्यस्त हो गए हैं। यही हाल कुछ भिन्नता के साथ आधुनिक हिन्दी के कथा-साहित्य का भी हो रहा था।

जो समाज में रहते हुए भी उसकी वस्तुस्थिति से परिचित नहीं हैं, वे या तो बहुत बड़े निर्लिप्त दार्शनिक हैं, या बहुत ही दुर्बल और मोहाच्छन्न ! हिन्दी में समय के प्रवाह के अनुकूल अब साहित्य के द्वारा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा भी की जाने लगी है। साथ ही साहित्य की अभिव्यंजना शैलियों का इस रूप में विकास भी हो रहा है कि उन्हे समझने के लिए बुद्धि का अधिकाधिक आयास आवश्यक है। उन सब से परिचित हुए बिना आलोचक बनने की लालसा रखने पर बँधी हुई प्रतिष्ठा के खो जाने का खतरा भी है। बिना नवीन अभ्यास और अंतर्दृष्टि के साहित्यिक कृतियों का अनुशीलन करना, उनका रहस्य जानना और मूल्य आँकना प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। समय की प्रगति के साथ हमारे साहित्य में भी नई व्यंजना प्रणालियों, नए संकेतों और नवीन भाव-विन्यास का आगमन हो रहा है। साथ ही नवीन सांस्कृतिक माध्यमों से बहकर आनेवाली साहित्य की धारा कुछ नवीन सन्देशों और अनुभूतियों को भी साथ लाई है आधुनिक साहित्य में यह सब प्रवेश पा रही हैं और पाती जायँगी। ऐसी अवस्था में अपने ही संस्कारों के घेरे के भीतर से साहित्य पर फतवा निकाल देने का इस जमाने में कुछ अर्थ नहीं रहा। कम-से-कम हमें यह आशा तो छोड़ ही देनी चाहिए कि प्रत्येक साहित्य-पुस्तक में राम-रावण की लड़ाई ही देखने को मिलेगी—नपे-तुले आदर्शों की ही व्यवस्था की जायगी। एक नवीन और व्यावहारिक युग हमारे सामने आया हुआ है। पश्चिम के सम्पर्क से हमारी परम्परागत मान्यताओं को नया रूप-रङ्ग धारण करना और नए साँचे में

ढालना पड़ रहा है। हममें बुद्धिवाद का प्रसार हो रहा है। साहित्य की जटिलता और अनेकरूपता प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस युगजीवन की जागृत और प्राणमय श्वासों का जो अनुभव नहीं करते, वे कंकाल के साथ न्याय नहीं कर सकते। हमारे कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि आलोचक किसी साहित्यिक कृति के सम्बन्ध में अपने निजी विचार प्रगट करने मे स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु साहित्य और सामयिक जीवन की प्रगतिशील रूपरेखाओं से परिचित हुए बिना ऐसा करना दु.साहस ही होगा।

(३)

कंकाल समाज के विरुद्ध विद्रोह करता और व्यक्ति के लिए पूरे-पूरे अधिकार चाहता है समाज के कठघरे में बन्द करके व्यक्ति को बौना बना दिया गया है, उपन्यास को यह सहन नहीं है। पाप क्या है? पाप और कुछ नहीं है, जो कुछ समाज के भय से छिप कर किया जाता है, वही पाप है। कंकाल की इस परिभाषा में समाज को ही पाप का प्रेरक बतलाया गया है और पाप का दायित्व समाज के ऊपर है तथा समाज और उसके अनुशासनों के बाहर पाप की कहीं सत्ता नहीं है, यह भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। पाप की प्रेरणा चाहे भय द्वारा दी जाय, चाहे प्रलोभन द्वारा अथवा सामाजिक संस्कार मात्र ही पाप के प्रेरक क्यों न हों, उनका उद्गम है समाज से ही। बेचारा व्यक्ति इस परंपरागत पाप-चक्र से इस बुरी तरह से दबा हुआ है कि वह क्षण भर के लिए भी अपनी विवशता का त्याग कर स्वतत्र नहीं हो सकता। वह एक निश्चेतन समाज-चक्र का बलात् काम करने वाला पुर्जा है वह इस परवश अवस्था से उठ कर एक क्षण भी यह विचार नहीं कर सकता कि अपनी आत्मा ही हम स्वय ही पाप और पुण्य के निर्णायक हों; अथवा यदि वह बहुत बड़ी धृष्ठता हो तो कम-से-कम इस पाप पुण्य के मामले में समाज को अपनी स्थिति का परिचय तो दे दे, इतनी भी उसमें क्षमता नहीं है। समाज ने हमसे सुनवाई की प्रार्थना का अधिकार भी छीन लिया है। और अब स्थिति यह है कि पूर्ण सचेत और महान् संभावनाओं वाला मानवात्मा जड़-समाज-यन्त्र के द्वारा निरंतर पीसा जा रहा है। उसके कर्तृत्व, उसकी विचारणा और उसकी भावना के सभी क्षेत्र अवरुद्ध है और वह अपने को सब ओर से पंगु पा रहा है।

और इस सामाजिक यन्त्र से लाभ उठानेवाले हैं कौन? मूलतः तो कोई नहीं, क्योंकि सभी अपनी सर्वोच्च स्वतत्रता को उसके हाथ बेंच बैठे

हैं। किन्तु तुलना की दृष्टि से इस समाज-यन्त्र का दुरुपयोग करनेवाले उच्च पदस्थ और सशक्त व्यक्ति और वर्ग हैं जो अपने को निरापद बना कर दुर्बलों, अशक्तों और अबलाओं पर विशेष रूप से अत्याचार करने की सहूलियत पा गए हैं। प्रकारान्तर से पाप का सबसे अधिक भार सिर पर रक्खे हुए भी वे अपने पापों पर कई प्रकार के आवरण डाल लेते हैं, और अपने को अछूता सिद्ध करने में नहीं हिचकते। साथ ही जो नीची सामाजिक भूमियों पर हैं, उन पर ये उच्च पदस्थ अन्यायी ऐसे कृत्रिम और जटिल विधि-निषेध लाद देते हैं जिनसे वे कभी छुटकारा पा नहीं सकते। ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक विधि-निषेधों का यह दुर्वह भार उन पर सब से अधिक है, जो सबसे अधिक अशक्त, अपाहिज और दीन-हीन हैं। सामाजिक नियम-बन्धनों का यही क्रियात्मक रूप कंकाल में देखने को मिलता है।

स्मरण रखना चाहिए कि एक सघटित और सुस्त कथानक के अन्तर्गत रोचक घटना चक्र और अतिशय रोचक वर्णन-शैली अंकित होकर समाज के अत्याचारों और पाखंडों की यह कथा अतीव मार्मिक हो गई है। कंकाल की यह सफलता हिन्दी में अपूर्व है। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में गाल्सवर्दी के नाटक व्यक्ति पर समाज के अत्याचारों को दिखाते हैं। विपन्नता के चित्रण में वे सामयिक साहित्य में शायद सर्वोच्च स्थान रखते हैं, पर उनके पात्रों का अर्थकष्ट हमें उतना अधिक आकर्षित नहीं करता, जितना कंकाल के पात्रों की समाज-पीड़ा, दम्भ और दुर्गुणों का भंडाफोड़, नकली और खोखले आदर्शों की निस्सारता, अनर्थकारी बन्धनों की जटिलता के प्रदर्शन पद पद पर करते हैं। समाज का यह रूप देख कर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं, अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। ग्लानि, क्षोभ और विडम्बना के भाव ही हम पर अधिकार कर लेते हैं। इस महाकार दुर्लंध्य और विवशकारी कालिमा का प्रदर्शन तथा उसके प्रति विद्रोह का सृजन ही उपन्यास का उज्ज्वल लक्ष्य है।

कंकाल के आक्रमण-पक्ष की तीव्रता देख लेने के बाद हमें यह देख कर आश्चर्य नहीं होता कि उसका निर्माण-पक्ष अतिशय व्यक्तिवादी या एनार्किस्ट (Anarchist) है। किसी भी सामाजिक सस्था, प्रणाली या परिणाम में उसका विश्वास नहीं है! व्यक्ति की प्राकृतिक चेष्टाओं, सहज कर्तव्यों,

और किसी भी कृत्रिम भार से रहित व्यवहार में उसकी अटल आस्था है। प्रसादजी का यह व्यक्तिवाद सात्विक प्रेममय, उत्कृष्ट चेष्टामय, शुद्ध, निर्दंभ, शक्तिमय और सतत आयोजनमय है। प्रसादजी के काव्य और नाटकों की प्रकृति आभा यहाँ भी है, वही प्रेम वही प्रमोद वही उत्साह जो हृदय के विशुद्ध स्रोत से निकल पड़ा है किसी सामाजिक आवश्यकता या संस्कार का ऋणी नहीं। अन्तर है तो इतना ही कि उनके काव्य और नाटकों की भूमिका अधिक उदात्त, रहस्यमय और अलोकसामान्य है, जब कि इस उपन्यास का वातावरण अतिशय प्राकृतिक प्रत्यक्ष और अनलंकृत है। इसके अतिरिक्त मूल प्रेरणाएँ प्रायः एक-सी ही हैं। जो सज्जन प्रसादजी की इस और उन रचनाओं में परस्पर विरोध या विभेद देखते हैं, उन्हें इस दृष्टि से उनकी कृतियों का निरीक्षण करने की सिफारिश की जाती है।

अस्तु प्रसादजी का व्यक्तिवाद उनकी सुसंबद्ध विचारधारा का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया होती ही है। जिसने हमारा अनिष्ट किया है, उससे कुछ भी सबंध न रखने की प्रवृत्ति स्वभाव-सिद्धि है। कंकाल में समाज से—उसकी सपूर्ण आस्थाओं और प्रभाव-क्षेत्रों से सम्बंध-विच्छेद का प्रश्न आया है। कंकाल के लेखक को समाज का रोग असाध्य और व्यक्ति की शक्ति अपार जान पड़ती है। प्रसिद्ध जर्मन एनार्किस्ट वेकुनिन राजनीतिक क्षेत्र मे प्रत्येक प्रकार की शासन-सस्था का नाश कर डालने का पक्षपाती था। उसकी यह धारणा थी कि व्यक्ति यदि शुद्ध मानव प्रकृति के नियमों का अनुसरण करे तो किसी प्रकार के शासन की आवश्यकता ही नहीं है। कंकाल में भी सामाजिक समस्या को लेकर इसी प्रकार की धारणा व्यक्त भी हुई है। समाज की एक भी रीतिपरंपरा, मान्यता (कुल-शील आदि की), व्यवस्था शुद्ध और साधार नहीं है, न व्यक्ति के लिए उपयोगी है। उपन्यास मे व्यक्ति पर समाज की विवशताओं और उसके परिणाम में होने वाले अनर्थों और दुःखों को दिखा कर व्यक्ति से पुनः-पुन. यही आग्रह किया गया है कि वह अपनी हस्ती को समझे और आत्मशक्ति का उपयोग करे। समाज का नकारवाद यह न करो, वह न करो) जो आए दिन केवल उच्चपदस्थ और अधिकारप्राप्त पक्षों का सहायक हो रहा है, वास्तविक धर्म का नियामक नहीं—इस नकारवाद की कुछ भी परवा न करके, व्यक्ति अपनी प्रकृति के आदेश को माने। प्रकृति और अतरात्मा

एक ही है। भाव-रूप में जो आत्मा है क्रिया-रूप में वही प्रकृति है। बस, अंतरात्मा की प्रेरणा से सारे कार्य करने चाहिए। यह सब बड़े ही धार्मिक ढंग से उपन्यास में व्यजित और ध्वनित है। इस व्यक्तिवाद का बड़ा मोदमय निरूपण 'घटी' और 'विजय' के चरित्रों मे करने की चेष्टा की गई है। एक हल्के और प्रसन्न वातावरण के द्वारा उन गुरु-गभीर और वोझीले मनोभावों की चुटकी ली गई है जो सामाजिक विधि-निषेध के भार से आनत हो रहे हैं; किन्तु जो गंभीरता वास्तविक चारित्रिक उत्कर्ष की प्रतीक नहीं है, वर अवसर आने पर धोखा देने वाली है। ऐसे धोखे के कई अवसर उपन्यास में,आए हैं।

ककाल के लेखक को व्यक्ति के शुद्ध स्वभाव पर अटल विश्वास है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने डार्विन के सिद्धान्तो के प्रतिकूल यह मत उपस्थित किया है कि व्यक्ति पर यदि किसी प्रकार का प्रतिबंध न रहे, तो उसमें स्वभावतः पारस्परिक 'सद्भाव' और 'सहयोग' की प्रवृत्ति होगी। कंकाल का रचनात्मक कार्यक्रम जो व्यक्तियो के सिपुर्द किया गया है, सुचारु रूप से चल रहा है। इस रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतीक उपन्यास का 'भारत-सघ' है।

(४)

यदि आदर्श की ओर ध्यान दिया जाय तो आदर्श बड़ा ही उच्च है। जो व्यक्ति स्वतन्त्र और मुक्त है, वह सदा हितवस्तु की ही इच्छा रक्खेगा। सब व्यक्ति ऐसे ही स्वतन्त्र और मुक्त हो जायँ, यही एनार्किस्ट चाहते हैं। उनका मूल विश्वास यह है कि यदि प्रत्येक मनुष्य 'स्वाधीन' हो तो वह कभी सघर्ष नहीं चाहेगा। इसी दृष्टि से एनार्किस्ट प्रोढन ने शासन-सत्ता पर आक्रमण करते हुए कहा है कि गवर्नमेण्ट का इतना ही लक्ष्य होना चाहिए कि वह मनुष्यों को बिना गवर्नमेण्ट के काम चलाना सिखा दे। यह बड़ा ही श्रेष्ठ आदर्श है, पर वर्तमान अर्धसभ्य समाज में सब व्यक्ति उस ऊँचे स्तर पर कैसे पहुँच सकते हैं? यह भी विचारने की बात है। व्यक्ति अपनी शुद्ध प्रवृत्ति का आदेश सुन सके और सुन कर उसका पालन कर सके, सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता न रह जाय जो नियन्त्रण माना हुआ हानिकर है—यह स भव है या नहीं और सम्भव है तो किस तरह?

कंकाल के लेखक का विश्वास है कि यह सब स भव है और इसके लिए उन्होंने दो व्यवस्थाएँ की हैं—लोक-शिक्षण की और लोक-सेवा की। व्यक्तिवादी दार्शनिक मिल ने अपने 'लिबर्टी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि

समाज को शिक्षा के लिए विशेष उद्योग करना चाहिए। वह शिक्षा-प्रवेश घर-घर में करे, पर अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रत्येक व्यक्ति को दी जाय। जो समाज अपने आदमियों को बच्चे पैदा करने की इजाजत देता है, पर उनके बुद्धि-संस्कार की व्यवस्था नहीं करता, वह अपने कर्तव्य से रहित है और इसके कुफल का स्वयं जिम्मेदार है। कंकाल का 'मङ्गलदेव' प्रायश्चित के व्याज से लोक-शिक्षण का व्रत लेता है। और अनेक कठिन परिस्थितियों में पड़ कर भी नहीं छोड़ता। अपने हाथों ईंट-गारा जोड़ कर वह पाठशाला स्थापित करता, लड़के एकत्र करता और अपने तथा उनके निर्वाह के लिए भीख माँगता फिरता है। वह असभ्य गूजरों के लड़कों को जंगल के एक गाँव में पढ़ाता देखा जाता है। मंगलदेव मानो एक संकेत है लेखक का यह उद्देश्य है कि सारे देश में शिक्षा-प्रचार के लिए मङ्गलदेव-जैसे व्यक्तियों की आवश्यकता है। लेखक ने जिस शिक्षा-क्रम का आयोजन किया है, वह भी उपयोगी और सरल है सेवा-कार्य की प्रेरणा कंकाल मे 'भारत संघ' के द्वारा मिलती है। उपन्यास के अंत मे सेवा-कार्य के शुभ फल फलित होते दीख पड़ते हैं। ध्यान देने की बात है कि इस सेवा-कार्य में स्त्रियों का प्रमुख स्थान है।

कंकाल के लेखक का आदर्श तो व्यक्तिवाद है, पर उपन्यास में उक्त आदर्श पूरा सफल होता नहीं देखा जाता। यह स्वाभाविक और यथार्थ सत्य भी उपन्यास की उल्लेखनीय विशेषता है। जीवन में नित्यप्रति हम जिस सत्य को देखते हैं, कंकाल' में उसी की झलक है। मानवीय प्रयासों के भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की आकर्षक आकाक्षा, उसकी प्राप्ति का मनस्वी प्रयत्न—मानव-धर्म इतना ही है। इस प्रयत्न की सफलता आंशिक हो तो आश्चर्य नहीं मनुष्य का निर्माण ही इसी धातु से हुआ है। इस दुनिया में असफलताओं की अंतिम लड़ी सफलता है। कंकाल की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की पुकार उठा रही है, पर वह किसी ओर से पूर्णतः सफल होती नहीं दीखती। उपन्यास का नायक 'विजय' है, किन्तु उपन्यास के अन्त में 'विजय' की हड्डियों का करुण कंकाल देख कर हम द्रवित होते और दुःखान्त उपन्यास का परिचय पाते हैं। समाज के कठोर हाथों से कुचला जाकर नायक 'विजय' का विकास बहुत कुछ दबा रहता है। उसकी

साधनाएँ सफल नहीं हो पातीं। उसका समाजविद्रोही संघर्ष और आयोजन असाधारण उत्कर्ष को प्राप्त हुए हैं। अंतिम समय में 'यमुना' और 'घंटी' रूपी सौभाग्य देवियाँ 'विजय' की अंत्येष्टि का सुप्रबन्ध करती हैं, इस प्रकार उपन्यास के अन्त में यद्यपि 'विजय' का विकृत कंकाल ही नजर आता है, किन्तु आशा और शान्ति के वातावरण में ही उपन्यास का परदा गिरता है। 'विजय' की मृत्यु ऐसी है जो अन्त में एक करुण, किन्तु सात्विक संतोष का उदय करा जाती है।

नारी और पुरुष स्वाभाविक आकर्षण और उनकी स्वतन्त्र गति-विधि के हामी होने के कारण ही प्रसादजी को प्रचलित पवित्रता-वादी विचार-धारा के प्रति विद्रोह करना पड़ा है। उनके अधिकांश पात्र इसी विद्रोही मनोभावना की उपज हैं और उपेक्षा तथा भगोड़ेपन का सा जीवन व्यतीत करते हैं। पर यह भगोड़ापन नवीन सामाजिक और सास्कृतिक साधना का अग बन कर आया है। वह अपना विशिष्ट उद्देश्य रखता है, निरुद्देश्य वह नहीं है।

कंकाल की आत्मा व्यक्ति की मुक्ति की आवाज उठाती है, किन्तु वह किसी ओर से पूर्णतः परिफलित होती नहीं दीखती। इस तथ्य की ओर से दुबारा ध्यान देने की आवश्यकता है। यहीं से ककाल आजकल के पश्चिमी बुद्धिवादियो की कृतियो से अलग हो जाता है जो अपने निरूपित सिद्धान्त से एक इंच भी घटना-बढना नहीं जानते और जिनकी आधार-शिला बौद्धिक तर्कों पर ही स्थित होती है, मानवीय परिस्थितियों पर नहीं। विशाल फ्रान्स देश के करोड़ों निवासी आज शताब्दियों से 'जोन ऑफ आर्क' नाम की राष्ट्र-भक्त महिला की अर्चना राष्ट्रदेवी के रूप में करते आए हैं। समष्टि में उसका बड़ा ही शुभ प्रभाव फैला हुआ है, पर बुद्धिवादी बर्नार्ड शॉ बड़े अनुसन्धान के बाद एक दिन यह संदेश लेकर निकल पड़े कि 'जोन ऑफ आर्क' डरपोक औरत थी और मरने के पहले उसने कई बार माफी माँगी थी। यह भावना-रहित बुद्धिवाद, बौद्धिक सिद्धातों और विचार-प्रणालियों की प्रतिष्ठा करना चाहता है। इसका लक्ष्य मानव-चरित्र-चित्रण नहीं है। यद्यपि कंकाल भी बुद्धिवाद की ओर उन्मुख है, किन्तु प्रसादजी कोरे सिद्धात की अपेक्षा मानव-चरित्र और जीवन-व्यापार से अधिक अनुरक्ति रखते हैं। इसलिए उनका यह उपन्यास कोरी बौद्धिक समस्या का साहित्यिक निरूपणमात्र नहीं है, वह एक सजीव मानव-आख्यान भी है। जीवन-घटनाओं का अनिवार्य प्रवाह भी उसमें है।

यह उपन्यास जहाँ एक ओर बुद्धिवाद की आधुनिक प्रणाली से पृथक् हो गया है, वहाँ दूसरी ओर यह उस अव्यवहार्य और रूढ़ आदर्शवाद को भी प्रश्रय नहीं देता जिसकी हमारे साहित्य में अतिमात्रा हो रही है। कहा जा सकता है कि कङ्काल में उस आदर्श-प्रधान रचना-प्रणाली की प्रतिक्रिया हुई है जिसके प्रतिनिधि प्रेमचदजी हैं। प्रेमचंदजी के 'कायाकल्प' से प्रसादजी के 'कङ्काल' की तुलना कीजिए। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का प्रस ग दोनों मे आया हुआ है। प्रेमचंदजी ने इस समस्या के समधान के लिए एक ऐसा महान् नायक खड़ा कर दिया है जो आदर्शवादी प्रणाली के अनुरूप है। उसके व्याख्यानों का वैसा ही असर होता है जैसा किसी महापुरुष का हुआ करता है। किन्तु कङ्काल उस परंपरा से छूट कर अलग हो गया है। वह इस सस्ती था से काम नहीं लेता, क्योंकि उसकी अव्यावहारिकता उसकी दृष्टि में आ गई है। वह सामान्य मानवीय धरातल पर से ही मानो प्रणत होकर कहता है 'ओ दुर्बल मनुष्य, पहले अपने को देख! हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई तो तुझे समाज ने बनाया है। मूलतः तू मानव है। तू अपने को धार्मिक और खानदानी समझता है किन्तु सच पूछ तो तेरी नस्ल का कोई ठिकाना नहीं है। धार्मिकता और खानदानीपन की आड़ में तू प्रतिदिन पतित ही होता गया है, जिसका परिणाम यह है कि आज तू अपनी प्रकृत मानवता से वञ्चित होकर वासनाओं का गुलाम बन गया है। आज तुझमें और तेरे समाज मे एक भी सत्प्रेरणा, सद्गुण और सत्पुरुष नहीं रहा। इसलिए पहले उठकर अपना घर संभाल।' और यह कह कर समाज के मुकुर मे उपन्यास हिन्दू मुसलमान सबका चित्र दिखा देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी चित्र एक-से भद्दे, कद्रूप और ग्लानि-जनक हैं, साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से कङ्काल का यह उपक्रम नवीन, तथा समाज की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उसकी तजवीज कारगर होने वाली है।

(५)

आदर्श की दृष्टि से कङ्काल के समाज-विद्रोही व्यक्तिवाद के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यूरोप के समाजवादी और व्यक्तिवादी राजनीतिक दार्शनिकों की कृपा से इस विषय के तर्कों की कमी नहीं है। यदि एक पक्ष में हर्बर्ट स्पेन्सर, मिल सिजविक और अनेकानेक फ्रान्सीसी तथा जर्मन एनार्किस्ट हैं, तो दूसरे पक्ष में भी ओवेन, हक्सले, हीगेल, डार्विन और

मार्क्स जैसे समाजवादी हैं। उदाहरण के लिए कङ्काल के एनार्किस्ट व्यक्ति-वाद के विरुद्ध कहा जा सकता है कि उसमें व्यक्ति को एकाकी मान कर नित्यप्रति के अत्यंत प्राकृतिक और अनिवार्य सामाजिक संबंधों की अवहेलना की गई है। प्रत्येक सामाजिक संस्था मनुष्य की आवश्यकताओं से बनी है और इतिहास-क्रम से उसका विकास होता आया है। इस अकाट्य सत्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया व्यक्ति में ही दोष हो सकते हैं जो समाज में हैं अथवा समाज के दोष वस्तुतः व्यक्ति के ही दोष हैं। इसका विचार नहीं किया गया। किन्तु कङ्काल का लक्ष्य समाज-संस्था के अनिवार्य दोषों, अवश्यभावी जड़ताओं, कुसंस्कारों आदि का प्रतिकार करना है। इन अवगुणों के विपरीत वे एक सचेत और सुशिक्षित 'व्यक्तित्व' का प्रतिपादन करते हैं। हमें यह कहते हुए कोई संकोच नहीं है कि उपन्यास के वर्णन और चित्रण-क्रम द्वारा प्रसादजी ने अपना पक्ष यथेष्ट प्रामाणिक और प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया है।

किन्तु कंकाल की इस दार्शनिक उपपत्ति के संबध में इतना कह चुकने पर अब यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि सैद्धान्तिक ऊहापोह उपन्यास का मुख्य विषय नहीं है। मुख्य विषय तो है सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का चित्रण। इसलिए यह कहना भी अनुचित न होगा कि समाज की वर्तमान विवशताओं और अवरोधों से विक्षुब्ध होकर ही कंकाल की उपर्युक्त विचार-धारा संघटित हुई हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं। साथ ही हम यह कह सकते हैं कि प्रसादजी का व्यक्तिवाद सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में चाहे कंकाल द्वारा यथेष्ट परिपुष्ट न हो सका हो, किन्तु वर्तमान उपचार के रूप में तो उसके प्रयोग अनुभूत और औषधि अमोघ सिद्ध होगी। इसका कारण यही है कि प्रसादजी समाज के एक सूक्ष्मदृष्टि पारखी हैं, विशेषकर दोषों और दुर्बल-ताओं को देखने की अचूक क्षमता रखते हैं। उनके अनुभव का क्षेत्र पुस्तकों तक सीमित नहीं है, वह बहुत ही विस्तृत, वास्तविक, सजीव और सजग है। हमारा वर्तमान समाज अपनी कुलीनता के थोथे, निष्प्रयोजन, विभेदकारी और ह्रासकारी बंधनों में आबद्ध है। यह एक निष्क्रिय, गतिहीन और कहीं न ले जाने वाले धर्माभास का शिकार हो रहा है। अशिक्षा के कारण कर्मण्यता लुप्त है। राजनीतिक और सामाजिक परतन्त्रता हमें जकड़े हुए हैं। बौद्धिक स्वाधीनता जो नाममात्र को है, वह भी सामाजिक अगतियों के

कारण कुंठित हो रही है। हमारा समाज-यंत्र जड़ होकर स्थिर है। अब यह चले तो कैसे? कंकाल हमें सुझाता है कि यह एक समाजव्यापी विद्रोह द्वारा ही गतिशील हो सकेगा और यह विद्रोह प्रारम्भ में स्वभावतः व्यक्तिगत ही हो सकता है। यही संक्षेप में कंकाल का व्यक्तिवादी निर्देश या संदेश है। जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए न तो हमें बहुमत का सहारा है और न राजकीय शक्ति की ही सहायता है। ऐसी अवस्था में हमारे व्यक्तिगत प्रयास ही हमें इष्ट की ओर ले जायँगे और व्यक्तिगत प्रयास के लिए बौद्धिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है। कंकाल अपनी सारी शक्ति इसी अर्थ लगा देता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि वह युग के अनुकूल साहित्य-सृष्टि है।

इस समय हमारा देश एक नवीन चेतना से सचेत होकर युगों से तिरोहित हुए प्रकाश की प्रत्यागत ऊषारश्मि में आँखें खोल रहा है। आज जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वराज्य की झाँकी हमें मिली है। शक्ति का ऐसा उन्मेष हो रहा है कि यदि कहीं उसका समीकरण हो सके तो नवीन भारतीय राष्ट्र अपने नवीन कला-कौशल, साहित्य, संगीत और ज्ञान-विज्ञान की कृति-सृष्टियों से संसार को चकित कर दे। डाक्टर एनी बेसेंट जैसी विवेकवती विदुषी महिला ने कई वर्ष पूर्व कहा था कि भारत की राष्ट्रीय जागृति में संसार के लिए महान् संभावनाएँ हैं। भारतीय स्वराज्य में ये सभी संभावनाएँ सन्निहित हैं। किन्तु राजनीतिक स्वराज्य ही सब कुछ नहीं है, अथवा वह सब कुछ तभी है जब वह हमारी सर्वदिक् स्वाधीनता का हामी होकर रहे। सब दिशाओं से, जीवन के सारे क्षेत्रों से उठने वाली स्वाधीनता की ध्वनियाँ ही आने वाले स्वराज्य का स्वागत-गान बनेगी। कंकाल व्यक्ति के लिए बुद्धिजन्य और बुद्धिसम्मत क्रियाजन्य स्वराज्य चाहता है। इस स्वराज्य में अधिकार-पक्ष के साथ ही कर्तव्यपक्ष आप ही सन्निविष्ट है, वर कहना यह चाहिए कि वर्तमान स्थिति में स्वाधीन बुद्धि से कर्तव्य-पालन और कष्टसहन ही इसका प्रधान अंग है। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने विधान में इस स्वराज्य की हामी भरी है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस क्षेत्र में अभी बहुत-सी मंजिलें तय करनी हैं। तब कहीं कंकाल का अभीष्ट बौद्धिक और व्यैयक्तिक स्वतन्त्रता-संबंधी लक्ष्य यथेष्ट सफलता प्राप्त कर सकेगा। फिर भी अपूर्ण तो वह रहेगा ही; क्योंकि मानव-व्यापार में पूर्णता है नहीं। कम से कम कंकाल के लेखक की ऐसी पूर्णता पर आस्था नहीं है,

यह हम ऊपर देख चुके हैं। इस दृष्टि से हम चाहे तो कंकाल को व्यक्तिवादी कृति न कहकर, व्यक्तिगत साधनावादी कृति कह सकते हैं। इस शब्द के रूढ़ धार्मिक अर्थ को मन से हटा कर खुली आँखों कंकाल को देखने पर, इससे बढ़कर दूसरा उपयुक्त विशेषण उपन्यास के लिए शायद ही कोई मिले। (१६३१ जून)

—

आरंभिक काव्य-विकास

नवीन युग की हिन्दी की वृहत्त्रयी के रूप में श्री जयशङ्करप्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानन्दन पंत की प्रतिष्ठा मानी जाती है। उनसे पीछे के कवियों में कतिपय ऐसे हैं, जो उनकी स्पर्द्धा करते हैं और पूर्ववर्ती कवियों मे भी दो-एक अपने रचना-विषय को उनकी पंक्ति में रखकर खड़े हुए हैं, परन्तु परवर्तियों की स्पर्द्धा अब तक सफल नहीं समझी गई और पूर्ववर्तियों का प्रयास भी भाषा और भाव के क्षेत्रों में अधिकतर अनुकरण ही माना गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार की समझ कहाँ तक ठीक है, पर यह तो निश्चय है कि उपर्युक्त वृहत्त्रयी ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-काव्य में युगान्तर उपस्थित कर चुकी है। यह कविता के अन्तरग और वाह्यांगों की मौलिक सृष्टि करके साहित्य समाज के सामने आई। इनमे भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशङ्कर प्रसादजी का कार्य सबसे अधिक विशेषता-समन्वित है। उन्होंने कविता-विषय को सब से प्रथम रसमय बनाया, कल्पना और सौन्दर्य के नए स्पर्श अनुभव कराए। उनके पूर्व के हिन्दी कवि, प्राचीन शृगारी कवियों के शृंगार से इतना भयभीत-से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने में ही संकोच मानने लगे थे। काव्य में मधुर भावों का प्रवेश सशक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति आकर्षण की कमी हो रही थी। समालोचकों ने लिखा है कि आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी पर मराठी भाषा का प्रभाव था और मराठी की पदावली स्वभाव-कर्कश थी। उनका कथन है कि द्विवेदीजी तत्कालीन हिन्दी-कविता के अध्वर्यु थे, इसलिए मराठी की उक्त कर्कश पदावली हिन्दी में भी आ गई। परन्तु इस प्रकार के आरोप विशेष संगत नहीं समझ पड़ते। आचार्य द्विवेदीजी पर मराठी से कहीं अधिक संस्कृत का प्रभाव था और वे हिन्दी के नेता होते हुए भी कविता के डिक्टेटर उस अर्थ में नहीं बने, जिस अर्थ में मुसोलिनी इटली का डिक्टेटर है। इसलिए ऐसा कहना कदाचित् भ्रमपूर्ण होगा कि मराठी के प्रभाव और हिन्दी में द्विवेदीजी के नेतृत्व के कारण नीरसता का

प्रसार हो रहा था। यह कहना समुचित नहीं कि हिन्दी की तत्कालीन कर्कशता खड़ी बोली के व्यवहार के कारण थी। यदि थोड़ा-सा ध्यान देकर देखा जाय, तो समझ में आ जायगा कि खड़ी बोली का व्यवहार, मराठी का प्रभाव आदि हिन्दी की तत्कालीन कठोरता के कारण नहीं थे, वरन् वे स्वयं लक्षण थे, जिनका कारण तत्कालीन वातावरण में ढूँढ़ना चाहिए।

हम उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी के द्विवेदी-युग के साहित्यिकों को शृंगारी कविता के प्रति स्वभावसिद्ध शङ्का रहती थी। उस समय की यत्किंचित् शृंगारोन्मुख रचनाएँ देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविगण कितना भयभीत होकर कदम रखते थे। अभी उस दिन हम 'कविता कलाप' नाम का आचार्य द्विवेदीजी-कृत संग्रह देख रहे थे जिसमे 'महाश्वेता' आदि कितने ही स्त्री-चरित्रों पर कविताएँ लिखी गई हैं। हमने देखा कि सर्वत्र संकोच के कारण कविताएँ त्रुटिपूर्ण हो गई हैं। अधिकतर एक कृत्रिम उपदेश की भावना लिए हुए नारी का सौन्दर्याङ्कण किया गया है और वह सौन्दर्य बहुत ही स्थूल, वाह्य-रेखा-बद्ध और नपा-तुला हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि कवियों ने शृंगार-विषय को काव्यवस्तु बनाने की प्रवृत्ति ही क्यों दिखाई! शायद वह प्रवृत्ति मनुष्यता की अनिवार्य माँग है। जब वह अनिवार्य है, तब शृंगार यदि विष भी हो तो उसे शोध कर गुणकारी बनाना चाहिए था। किन्तु वह गुण-कारी किस प्रकार बन सकता है, इसकी विधि द्विवेदी-काल के साहित्यसेवियों को निश्चयपूर्वक मालूम न थी। स्मरण रखना चाहिए कि वह ऋषि दयानन्द के आर्य-समाज का युग था जिसकी विशेषता संघर्ष बतलाई जाती है। चित्र-कला में रविवर्मा उस काल के प्रतिनिधि थे। उनकी भी रुखाई हम लोगों को मालूम ही है। उस समय लोग घर में लड़ाई करके बाहर देशप्रेम जनाने में गौरव का अनुभव करते थे। नारी के प्रति न तो प्राचीन महाकाव्यों का सा औदात्य, न कादबरी का सा सहज स्वातन्त्र्य और न पाश्चात्य यथार्थोन्मुख रचनाओं की सी अकृत्रिम भावना व्यक्त हो सकी। बहुत-से कवि जीवन के व्यापक क्षेत्र से हटकर डिप्टी कलक्टरों और तहसीलदारों को 'जुग-जुग जिलाने' में ही लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में जब कभी कविगण अपने हृदय की टोह लगाते होंगे, तब अपनी रचनाओं में एक अपूर्णता और कृत्रि-मता का अनुभव अवश्य करते होंगे। शायद यही अनुभव कर वे प्राचीन रसमय संस्कृत काव्यों का अनुवाद करने को प्रेरित हुए। श्री श्रीधर पाठक ने

इसी समय के लगभग कुछ अंग्रेजी कविताएँ पढ़ीं और हिन्दी में उन्हें उद्धृत किया। परन्तु अनुवाद तो आखिर अनुवाद ही है।

एक और बात भी ध्यान देने लायक है। ब्रजभाषा में उस समय शृंगारिक समस्यापूर्तियाँ हो रही थीं जिनके विरुद्ध खड़ी बोली में एक आन्दोलन ही चल उठा था। इन समस्यापूर्तियों में भी ऊपरी हावों-भावों, बाहरी मुद्राओं और स्थूल इंगितों की ही प्रधानता रहती थी। उधर उन लोगों ने शृंगार के अतिरिक्त सब कुछ अस्पृश्य समझ लिया और उसे कोरी शारीरिक वर्णना तक ही सीमित रक्खा, इधर इन लोगों ने शृंगार को ही अस्पृश्य समझ लिया और उसका या तो त्याग ही कर दिया या उसे उपदेशात्मक काव्य का विषय बना डाला। वे लोग प्राचीनतावादी हो गए, ये लोग नवीनतावादी। उन लोगो को यह शऊर नहीं था कि शृङ्गार का संस्कार करते। इन लोगों को शृङ्गार नाम से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि उसके संस्कार की कल्पना भी न कर सके। एक प्रकार का द्वंद्व-युद्ध चल रहा था, जिसमें विवेक का प्रायः दोनों ओर से अभाव था। तथापि नवीन नवीन ही है और प्राचीन प्राचीन ही। सामयिकता की ओर प्राय सबकी रुचि होती है। द्विवेदी-युग अपनी नवीनता के कारण सम्मानित हुआ। नवीन युग का उत्साह नवीन कविता मे अवश्य देखा गया; पर जीवन के अंतरंग को स्पर्श करनेवाली वास्तविक काव्य-सृष्टि कम ही हो सकी।

एक चौथी बात और है। हिन्दी में द्विवेदी-युग गद्य के अभ्युदय का युग था। विचारों का प्रकाश जितना गद्य में प्रकट होता है, उतना पद्य में कठिनाई से हो सकता है। समूह की भाषा गद्य की ही हो सकती है, और उस समय समूह की भाषा की आवश्यकता थी। काव्य के द्वारा तर्क नहीं किया जा सकता, पर उस समय लोग तर्क पसन्द करते थे। अभ्युदयशील जनतावाद के युग मे पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है, वही किया भी गया। सिद्धान्तों की चर्चा के लिए, साधारण विचार व्यक्त करने के लिए, वक्तृताओं के लिए गद्य का सभी लोग आश्रय लेते हैं, उस युग के भी साहित्यिकों ने लिया। आचार्य द्विवेदीजी की अधिकांश प्रतिभा गद्यशैली की स्थापना में ही व्यय हुई। छन्द की ओर उतना ध्यान नहीं रहा जितना व्याकरण की ओर। काव्य-संगीत को छोड़कर साहित्यिकों ने गद्य-प्रवाह का पल्ला पकड़ा। कोई नहीं कह सकता कि वे

अपने कार्य में असफल हुए। कुछ ही वर्षों के प्रयास से उन्होंने हिन्दी मे गद्यशैली की ऐसी सुदृढ़ स्थापना कर दी, जिसका लोहा अब भी माना जाता है। कविता के क्षेत्र में द्विवेदी-युग का अतिक्रमण किया जा चुका है। विचारों की दुनिया भी आगे बढ़ चुकी है, पर गद्यशैली तो उसी युग की अब भी चल रही है। आज भी आचार्य द्विवेदीजी गद्य के सब से बड़े अधिष्ठाता माने जाते हैं। जिस प्रकार काव्य में खड़ी बोली का प्रयोग सामयिक वातावरण का एक लक्षण-मात्र था, उसी प्रकार गद्य का विकास भी। उसी वातावरण में रविवर्मा के चित्रों का सार्वदेशिक सम्मान हो रहा था। उस वातावरण को हम एक प्रकार का सामूहिक पवित्रतावादी, नवोत्साहपूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसमें स्थूलता और कृत्रिमता की छाप भी देखी जाती है।

सब लोगों को इस प्रकार का वातावरण रुचिकर नहीं होता। यदि कुछ लोग सिद्धान्त-निरूपण और तर्क पसन्द करते हैं तो सब लोग नहीं कर सकते। गद्य का चमत्कार उन्हीं के कानों में संगीत से बढ़ कर आनन्द उत्पन्न कर सकता है, जिनकी वैसी अभिरुचि हो। बहुत-से ऐसे आदमी मिलेंगे, जो श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्य-सौन्दर्य को श्री सुमित्रानन्दन पंत के छन्दों से अधिक पसंद करें। पर बहुत-से ऐसे नहीं भी मिलेंगे। 'कविता-कलाप' की रचनाएँ तो आज बहुत ही कम रुचिकर लगेंगी, उसकी शृंगार-संबंधी कविताएँ तो निम्न कोटि की समझ पड़ेंगी। उनमें कवियों का हृदय खुल कर कल्पना और भावना की तरंगों में बहा ही नहीं। जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पढ़ी है, फिर 'कविता-कलाप' की 'तिलोत्तमा' आदि का वर्णन पढा है, वे यह समझ लेंगे कि द्विवेदी-युग कविता के लिए कितना अनुपयोगी और अनुर्वर था। यदि काव्य के लिए अनुपयोगी न होता, तो शायद इतने अल्प समय में गद्य की इतनी सुन्दर प्रतिमा खड़ी न की जा सकती। कविता के लिए अनुपयोगी हो, तो भी हिन्दी के लिए वह सुयोग ही था।

उस समय की प्रचलित कविता की दिशा बदलने में अग्रणी श्री जयशंकर प्रसाद ही ठहरते हैं। श्री श्रीधर पाठक की अनुवादित कृतियों के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ प्रसादजी के पहले की नहीं हैं। कवि श्री रत्नाकर प्राचीन पौराणिक कथा-वस्तुओं को लेकर आलंकारिक रचनाएँ कर रहे थे। उनकी भाषा पुरानी और काव्य-संस्कृति मध्यकालीन थी। नवीनता केवल

नवीन रूपकों, अलंकारों और प्राचीन भावों को नवीन उक्तियों से सज्जित करने में थी। आप कह सकते हैं कि कथानक के प्राचीन होने से क्या उनका चित्रण नवीन नहीं हो सकता ? हो सकता है, जैसा श्री मैथिलीशरणजी के 'साकेत' आदि काव्यों में हुआ भी है, किन्तु रत्नाकरजी की वह दृष्टि नहीं थी। वे प्राचीन आत्मा में नव्य प्रकृति का सन्निवेश नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने प्राचीन आत्मा को ही रंगीन बनाकर उपस्थित किया। उनकी रचना इसलिए उक्तिबहुल और आलंकारिक हुई। एक बात और समझने की है। जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन कहते हैं, वह उन-उन कालों में प्राचीन नहीं थी जब उसकी सृष्टि हुई थी। उदाहरण के लिए सूरदासजी को लीजिए और उनकी तुलना रत्नाकर से कीजिए। सूरदासजी के काव्य में वही भाव अतिशय प्राकृतिक, रसमय, मनोरम और परिपुष्ट संस्कृति के उन्नायक होकर आए हैं। उनकी काव्य-धारा 'रत्नाकर' जी की सी उक्तिबहुल, अलंकृत और कोरी साहित्यिक Pedantic) नहीं है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय काव्यगत नवीनता, एक नया संदेश और नई दृष्टि लेकर आए। रत्नाकरजी के 'गंगावतरण' से गुप्तजी के 'जयद्रथ-वध' की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली में एक नई खराद और काव्य में पौराणिकता के स्थान पर आदर्शात्मक मनोभावों का प्रवेश भी हो रहा है। किन्तु वह प्रवेश भी आरंभिक और आंशिक है। श्री मैथिलीशरणजी में वह एक करुण मानवीय सात्विकता तथा उपाध्यायजी में प्रशान्त सात्विकता तक सीमित है। अपने समय के ये उत्थान क्रम उल्लेखनीय नहीं हैं। किन्तु ये शैशवावस्था के हैं। ये जीवन की व्यावहारिक वास्तविकताओं और यौवनोद्वेग की किरणों-से ऊष्म नहीं हैं। कथावस्तु प्राचीन है, यद्यपि निरूपण नया है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि पूर्वयुग की है। उदाहरण के लिए गुप्तजी की नवीनतम रचना 'द्वापर' काव्य को भी देखें तो स्त्री का वही करुण समर्पण, भावुक परावलंबन आदि देखने को मिलेंगे। काव्य-चित्र और काव्य-शैली भी व्यक्त, स्थूल रेखाबद्ध, अनुदात्त और अनुत्कर्षपूर्ण है। सिख गुरु के कारण उपाध्यायजी में करुणा की अपेक्षा शान्त और भावना की अपेक्षा कर्तव्यपरायणता की प्रमुखता है, किन्तु दोनों हैं एक ही युग के दो रत्न, साहित्य में भी समानधर्मा, सांस्कृतिक दृष्टि भी मिलती-जुलती। कुछ समीक्षकों ने लिखा है कि कवियों का प्रकृति-

प्रेम और प्राकृतिक चित्रण भी उल्लेखनीय है, किन्तु प्रकृति का स्वतंत्र और वास्तविक चित्रण तथा उसकी निजी सत्ता के प्रति आकर्षण हमें इन कवियों मे कहीं नहीं दीख पड़ता। यत्किंचित् वह उपाध्यायजी मे है, पर कथा के अंग-रूप में ही। यह भी एक कारण है कि हमें इन कवियों मे प्रबंध-रचनाओं की ही प्रवृत्ति दीख पड़ती है, सुन्दर भावगीतों की सृष्टि की नहीं।

श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य के लिए परम आवश्यक माधुर्य भाव की सृष्टि प्राकृतिक वर्णनों-द्वारा प्रारभ की। 'चित्राधार' की उनकी उस काल की कविताएँ लोगो को अनोखी लगी होंगी।

'चित्राधार' से प्रकृति-प्रेम की जो कविता आरभ हुई, उसका विश्लेषण करने पर कई बातें मालूम होती हैं। एक तो वह गीत-कविता के रूप मे है। जहाँ छोटी-छोटी भावनाएँ एक मे केन्द्रित होकर गेय हो उठती हैं, उसे गीत-काव्य कहते हैं। हिन्दी के आलोचकों ने गीत-काव्य के सबंध में भयानक भ्रम फैला रखा है। अपनी विचित्र व्याख्याओं मे वे कहा करते हैं कि जहाँ अन्तःसौंदर्य व्यक्त करना होता है, वहाँ गीत-काव्य-द्वारा और जहाँ बाह्यसौन्दर्य व्यक्त करना होता है, वहाँ प्रबंध-काव्य-द्वारा किया जाता है। पर इस प्रकार की बात वास्तव मे है नहीं। द्विवेदी-कालीन काव्यकारों या पुस्तक-रचयिताओं को ही लीजिए। क्या उनमे हम केवल बाह्य आकार-प्रकार और व्यवहार की स्थूल वर्णना ही मुख्यत: नहीं पाते? यही नहीं, प्रेममूलक जिन कविताओं में वे समीक्षक अन्तःसौन्दर्य देखा करते हैं, उनमें कहीं-कहीं तो अन्तःसौंदर्य यही होता है कि वे एक उत्तेजनाशील प्रज्वलन-मात्र उत्पन्न करती हैं। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अन्त.सौन्दर्य से तो बाह्यसौन्दर्य ही श्रेष्ठ है। इसी के विपरीत हम प्रबध-काव्य के विस्तृत कथानकों और चरित्र-चित्रणों मे जो ऊपरी दृष्टि से बाह्य प्रतीत होते हैं, उत्कृष्ट श्रेणी का भाव-सौन्दर्य देखते हैं। वास्तव में सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य के साँचे की बंदिनी नहीं। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके बाह्य और आतर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असंगत है। गीत-काव्य और प्रबंध-रचना मे भेद यह है कि एक में काव्य किसी एक सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवन-समस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे मे बहुमुखी जीवन-दशाओं और स्थितियों का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्राय: उदात्त और उसका स्वर गंभीर हुआ करता है, जब कि गीतों मे माधुर्य की प्रधानता

होती है। वर्णनात्मक काव्य में वाह्य जगत और जीवन-व्यापारों का सौन्दर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपों, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियों की सुषमा अधिक देखने को मिलती है। दोनों में ही उच्च कोटि का काव्य एवं जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हमें मिल सकती है।

यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त अद्भुत आलोचकों के कारण हिन्दी काव्यजगत में अत्यंत हानिकारिणी विचार-परम्परा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौन्दर्य नहीं, वहाँ अतःसौन्दर्य देखा जाता है। जहाँ सौन्दर्य है, उसकी अवहेलना की जाती है। जो गीत-काव्य केवल काव्य-संबंधी वाह्य वर्गीकरण की वस्तु है, उसे जीवन के अन्तःसौन्दर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है। यह सब का सब भीषण भ्रम है। कविता की समीक्षा में न कहीं गीत-काव्य है, न कहीं अगीत काव्य। न कहीं अन्तःसौन्दर्य है, न कहीं वाह्य सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य में सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमें देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है?

श्री जयशंकर प्रसाद के 'चित्राधार' में उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अंग्रेज कवि वर्ड्स वर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निःसर्ग-सिद्ध तादाम्य नहीं दीख पड़ता। प्रत्येक पुष्प में उन्हें वह प्रीति नहीं जो वर्ड्स वर्थ को थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। यह 'चित्राधार' की बात कही जा रही है। उसमें उनका प्रेम रमणीयता से है प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नहीं। इस रमणीयता के संबंध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदयपक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क-पक्ष। कहीं-कहीं वे रमणीय दृश्यों को देखकर मुग्ध होते, और कहीं-कहीं प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमें कहाँ से आई। यदि अधिक छान-बीन की जाय, तो देखा जायगा कि मुग्ध होनेवाले स्थल कम हैं, जिज्ञासा के स्थल अधिक। जिज्ञासाओं की व्यंजना यह है कि वे प्रत्येक रमणीय वस्तु में चैतन्य-ज्योति देखते हैं। अवश्य ही यह चैतन्य-ज्योति कवि के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार आरंभ में जीवन के किसी गहन-स्तर को स्पर्श करता कम दीख पड़ता है। नवयुवक कवि यद्यपि अनेक बार इस प्रकार की जिज्ञासाएँ करके दिव्य-सौन्दर्य का संकेत करता है, पर उसकी सामान्य दृष्टि

किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती। उसकी सौन्दर्य-भावना का विकास व्यापक नहीं होता। यह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहरता तक ही परिमित रहती है। जिस प्रकार ब्रजभाषा के कवि प्रकृति का वर्णन मनुष्य जगत का उद्दीपन बना कर करते थे, उसी प्रकार अनेक बार जयशंकर जी ने भी किया है। किन्तु उनकी भावना आरम्भ से ही अधिक सूक्ष्म और उन शृंगारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा ही आगे उनके विकास में सहायक हुई है। यदि 'चित्राधार' में ये जिज्ञासाएँ न होती, तो प्रसादजी प्रेमाख्यानक शृंगारी कवियों की श्रेणी से ऊपर उठकर उच्चतर रहस्य-काव्य का सृजन न कर पाते।

'चित्राधार' से आगे बढ़ने पर श्री जयशंकर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम और मानव-चरित्र-संबंधी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है, उनकी जिज्ञासावृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम-पथिक' इसका प्रमाण है। इसमें प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गया है और मानव-सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रहकर एक अनुपम त्याग की भावना में पर्यवसित हो गया है; प्रकृति के प्रेम से हट कर उनकी जिज्ञासा मनुष्यों के प्रेम में समाविष्ट हो गई है। जिज्ञासा का तार नहीं टूटता। इसी में कवि का विकास देखा जा सकता है। 'प्रेम-पथिक' में कवि की मनुष्य-प्रेम-सम्बन्धी जिज्ञासा का स्वरूप प्रकट हुआ है। यहाँ कवि एक तात्त्विक निष्कर्ष तक पहुँच सका है। प्रेम अनन्त है, उसका ओर-छोर नहीं है। उसकी परिणति पूर्ण त्याग में है। इसमें बड़ी स्वच्छता और सात्त्विकता है। यह न समझना चाहिए कि प्रसादजी का यह प्रेम संबन्धी आदर्श प्राचीन आध्यात्मिक गतानुगतिकता का परिणाम है। इसमें कवि की अपनी अनुभूति और विचारणा का भी योग है। इसका भाव-चित्रण तथा प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतंत्र विशेषता रखती है। इसमें परंपरा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। वाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता को यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी में एक नवीन भावधारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण में लिखा गया है।

'आँसू' प्रसादजी का विरह-काव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीत-कविता है। हिन्दी में इसकी गणना थोड़ी-सी उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है।

आधुनिक हिन्दी में जो थोड़े से प्रथम श्रेणी के विरह-गीत हैं, उनमें 'आँसू' का भावना-संकलन श्रेष्ठ होने के कारण वही उत्तम गीत है। 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको प्रकृत रूप में देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करनेवाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की जरूरत नहीं—उसकी उच्चता स्वत सिद्ध है। काव्य-विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' में निखरे हैं, उन्हें वादों के बखेड़े में डाल देने की हम तजवीज नहीं कर सकते। कवि के साथ यह अन्याय अनुचित होगा।

'आँसू' प्रसादजी की पूर्व की रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें 'चित्राधार' की-सी हलकी, चमत्कार-चचल दृष्टि नहीं है, न 'प्रेम-पथिक' का सा 'रोमाटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है। वह अधिक गहरी चीज है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि निःसंकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट आकर्षण है, उसे कवि उतने ही विराट रूपको और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है, वही 'आँसू' बनकर निकली है। इसे आप कवि का आत्म-स्वीकार मान सकते हैं, जिससे बढ़कर काव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नहीं। यह कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है। जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है, जब कवि किसी अत्यन्त आवश्यक सासारिक समस्या पर अपने अतरतम की बाते कह रहा है, तब उसे उसी रूप में न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते हैं, न कविता के प्रति। 'आँसू' में छायावाद कहाँ है? उसके वियोग-वर्णन मे? नहीं, वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति में? नही, वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी मे जब किसी के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इस तरह की बाते कहे, तब प्रसादजी ने उन्हे कहा। यह साहस और कवि की सवेदना स्वतः ही काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर ले गई है। दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं।

हाँ, इस संपूर्ण वर्णना में जो मानवीय और प्रकृत है, एक अंतर्हित रहस्यात्मक या आध्यात्मिक ध्वनि भी आद्यंत सुन पड़ती है। यही है 'आँसू'

की रहस्यात्मकता। इसका कारण यह है कि मानवीय प्रेम या सौन्दर्य आदि 'आँसू' काव्य में केवल स्थूल प्रेम या सौन्दर्य नहीं हैं, वे प्रेम और सौंदर्य-रूप में आत्मा के अङ्ग बन गये हैं। 'आँसू' में मानवीय प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक दीप्ति से दीपित हैं। यही अन्तर है सूफी प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्तियों में और प्रसादजी के प्रकृत रहस्य-काव्य मे। सूफी-प्रेम और सौन्दर्य-रूपी आत्मा के चित्रण को ही लक्ष्य मानकर केवल आनुषंगिक रूप से मानव-जीवन के दृष्टान्त लेते हैं, किन्तु प्रसादजी अथवा आधुनिक छायावादी दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देखते हैं। यह स्पष्ट है कि इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यों, परिस्थितियों और व्यापारों की नियोजना आधुनिक छायावाद में प्राचीन सूफी-काव्य की अपेक्षा अधिक सबल और यथार्थोन्मुख हुई है।

'आँसू' सब प्रकार से एक मानवीय विरह-काव्य है। तभी उसके अन्त में जो तात्त्विक निष्कर्ष है वह हमारे इस जीवन के लिए आशाप्रद और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सम्पूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अन्तिम पक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे, न रसानुभव कर सकेंगे। 'आँसू' की अन्तिम पंक्तियों की शिक्षा हम पर तभी प्रभाव कर सकेगी, जब हम उसे मानवीय आत्मकथा मानें। यदि वह छायावाद है, तो इसी अर्थ में कि वह मानवीय प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सपन्न हो उठा है। कवि की अनुभूतियों के साथ इसी रीति से न्याय किया जा सकता है।

आँसू' के अनन्तर कुछ समय तक प्रसादजी की कविता का वैसा परिपाक कहीं नही दीख पड़ता। झरना' में कुछ अच्छी रचनाएँ बहुत-सी साधारण कृतियों के साथ मिली होने के कारण अच्छा प्रभाव नहीं उत्पन्न करतीं। प्रगतिशील समय के नवीन बौद्धिक प्रयोगो और उसकी निर्णयहीन अव्यवस्था में प्रसादजी अपने को पुनः डुबा देते हैं। उसकी वाणी वहाँ प्रकृत रीति से कम ही झकृत हुई है, उसके स्वर का निसर्ग उछ्वास वहाँ नहीं सुन पड़ता। इसका कारण ढूँढ़ने बहुत दूर नहीं जाना है। यह तो उनके विकास के साथ-साथ स्पष्ट दीख पड़ता है। प्रसादजी मूलत. प्रेम-रहस्य के कवि हैं। सामाजिक विचारणा में वे मिल की भाँति व्यक्तिवादी हैं और

सामूहिक प्रगति-संबंधी उन आदर्शों से अनुप्रेरित हैं, जो मध्यवर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिसमें स्वभावतः अल्प-सख्यक उच्च वर्ग और उसके ह्रासोन्मुख संस्कारों के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। यूरोप मे यही प्रगति 'लिबरलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई और अब भी जनसत्तात्मक राष्ट्रों में आवश्यक परिवर्तनों के साथ प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण, वर्गसंघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन 'यथार्थवाद' का प्रसादजी के साहित्य में केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसादजी की मूल प्रवृत्ति यथार्थोन्मुख' ही है, किन्तु संकीर्ण अर्थ में यथार्थवादी.' वे नहीं हैं। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसादजी में हम नहीं पाते।

प्रसादजी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है, तो भी मनुष्यसापेक्ष्य है। यह विकासभूमि यदि संकीर्ण है, तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'आँसू' में प्रसादजी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसादजी प्रसादजी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं। 'झरना' में एक विचित्र अवसाद, जो नवीन बौद्धिक अन्वेषणों और तज्जन्य संशयों का परिणाम जान पड़ता है, बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भाव-धारा की प्रतिक्रिया भी इसमे दिखाई देती है। यह प्रसादजी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसादजी-जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए जो नवीन प्रयोगों में (सामयिक विचार-प्रवाहों के नये चक्रों में) स्वभावतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्यजनक नही है। प्रश्न यह है कि वे नवीन प्रयोग कौन-से हैं जिनका अनिवार्य परिणाम 'झरना' है। मेरे विचार से ये वे प्रयोग हैं जो प्रसादजी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गंभीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहा थे। अवश्य ही यह साक्षात्कार 'झरना' में स्पष्ट नहीं है, केवल भाव-परिवर्तन की झलक भर है किन्तु कटु वास्तविकता, गंभीर जीवनानुभव तथा स्थान-स्थान पर प्रकट होने वाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तियाँ यहीं उपत्न हो

रही थीं जिनका परिपाक हम आगे चलकर 'कामायनी' काव्य में देखते हैं। यद्यपि प्रसादजी मे मानवता, उसकी शक्ति और संभावना के प्रति इतनी सुदृढ़ आस्था थी कि 'कामायनी' काव्य दुःखान्त होने से बच गया, किन्तु अपने युग की सामाजिक और सास्कृतिक असाध्य हीनताओं के प्रति प्रसादजी की विरक्ति, क्षोभ और आवर्जना 'कामायनी' मे कम परिस्फुट नहीं हुई हैं। उन्ही का उद्गम-स्रोत हमें 'झरना' में दिखाई देता है।

जिस व्यक्ति ने अपने नाटकों मे, उपन्यासो और कहानियों में भी अनेक-अनेक मनुष्य चरित्रों और मानव-भावनाओं का अंकन किया है, उसकी विकास-दिशा न समझना हिन्दी के प्रकाड समीक्षको की दिव्य अन्तर्दृष्टि का ही नमूना है। हमारे विश्वविद्यालयों के गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तों का संग्रह करने मे महाराज दक्ष की लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदैव काया-प्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं। अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिए यदा-कदा जब इनकी जीभ खुलती है तब एक ही लपेट में किसी को सूफी, किसी को अभारतीय बनाती हुई अपना काम बना लेती है। बस, फिर वही कायाप्रवेश। क्या आश्चर्य है यदि सामयिक साहित्य को इन्हीं के कारण वाञ्छित प्रगति न प्राप्त हो रही हो! ये ही अन्तराय बनकर अभ्युदयशील साहित्यिकों मे दिग्भ्रम उत्पन्न करते हैं। इनसे सचेत रहना हम सबका काम है। श्री जयशंकर प्रसाद सूफी नहीं हैं। जिस व्यक्ति ने 'चाणक्य' की सृष्टि की है, 'घण्टी' और 'यमुना' की सृष्टि की है, अपनी प्रशसा और स्तुति-द्वारा, अपने वर्णन और चित्रण-द्वारा, अपने व्यंग्य और उपहास-द्वारा भी जो अपनी कल्पना के अनुकूल मानव-काव्य की सृष्टि कर रहा है, जिसकी कविता मानवीय संयोग और वियोग से हल्की और बोझीली हुई है, वह परोक्ष-सत्ता का उपासक सूफी कवि नहीं कहा जा सकता। मनुष्यों के जीवन में जो कुछ रहस्य है, छाया की भाँति जो कुछ सूक्ष्म किन्तु अनुभवगम्य है, वही जयशङ्करजी का प्रकृत रहस्यवाद अथवा छायावाद है। प्रसादजी का अपना रहस्यवाद कहाँ है? 'आँसू' की इन पंक्तियों में —

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का
नचती है नियति नटी-सी
कन्दुक क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती
हो उदासीन दोनों से
दुख सुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाए।

अथवा अनेक वार उद्धृत इन पंक्तियों में:—

चढ़ कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद बल पर
उससे हारी होड़ लगाई।

यहाँ कहीं सूफी रहस्यवाद नहीं। इसे आप मनुष्य-जीवन का रहस्य कह सकते हैं। यह जिन्दगी के साथ बराबरी का समझौता है—जीवन का औपनिवेशिक स्वराज्य है। प्रसादजी ने जीवन की कठोर व्यावहारिकता स्वीकार की है, पर आध्यात्मिक आशावाद के साथ। वह दृढ़ मनस्विता ही प्रसादजी की विशेषता है। यही उनका रहस्यवाद और छायावाद है। इसे उनकी मानवीय कविता का उपसंहार कहिए या उपहार कहिए। इसके अतिरिक्त हम प्रसादजी के किसी छायावाद के भक्त नहीं हैं।

भारतीय अध्यात्म-काव्य अथवा सूफी प्रेम-काव्य सिद्धान्ततः एक ही भूमि पर हैं; वह भूमि है अलौकिक आदर्श की। आत्मा की वह अप्राकृत स्थिति जहाँ वह संपूर्ण जगद्व्यवहार के परे विरुद्ध पारमार्थिक अथवा अपार्थिव रूप में प्रकट है, वही आध्यात्मिक साहित्य का वर्ण्य विषय है। जहाँ मानवीय भावों का सनिवेश किया गया है, वह भी अतिशय आदर्शोन्मुख भाव हैं और अमानवीय सत्ता की झलक दिखाते हैं। यह सत्य है कि ह्रास-काल में यह

आध्यात्मिक काव्य स्थूल रूपों, दृश्यों और भावों को भी प्रेम-काव्य और अलौकिक लीला के नाम पर चित्रण करने लगा था, किन्तु सिद्धान्त-रूप में वह अलौकिक भूमि पर ही रहा। केवल भारतीय अवतारवाद की धारा के अन्तर्गत मानवीय आदर्शों, भावो और व्यावहारिक स्थितियों का विशेष दिग्दर्शन कराया गया, किन्तु वहाँ भी चरित्र की अलौकिकता सिद्ध करने में कोई कसर नहीं रक्खी गई। फलतः संपूर्ण अध्यात्म-काव्य अपनी अलग ही परिधि बनाकर रहा जिसमें मानव-चरित्र का या तो स्पर्श ही नहीं हुआ, या केवल साधन-रूप मे स्पर्श हुआ। पार्थिव की ध्वनि या संकेतमात्र बन कर रही।

इसके विपरीत प्रसादजी का काव्य मूलतः मानवीय है, यद्यपि उनकी सृष्टि में यह मानव-सत्ता वास्तव में अध्यात्म का अभिन्न अंग ही है। इस कारण उन्हे मानव-चरित्र को ही अपना साध्य बना लेने मे कोई 'आध्यात्मिक' सकोच नही हुआ। यह विभेद है आध्यात्मिक या सूफी रहस्यवाद में और प्रसादजी के प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रणों मे।

मानवीय जीवनस्वरूपों का भी आध्यात्मिक प्रबधों मे, या विशेष सूफी प्रबध-काव्यों में सुन्दर चित्रण किया गया है। तुलसी और सूर के राम और कृष्णकाव्य मे तो मध्ययुग की सर्वोच्च सस्कृति ही सनिहित है। तथापि यह कहने में आपत्ति नहीं है कि लक्ष्य कुछ और ही होने के कारण यह सम्पूर्ण अध्यात्म-काव्य प्राकृतिक मानवीय अनुभूतियों और वास्तविक जीवन-दशाओं के साथ यथेष्ट न्याय न कर सका। उसकी प्रमुख दिशा भावना-प्रधान और आदर्शोन्मुख थी। फिर ह्रास-काल में तो सूफी-प्रेम-कथाओं में प्रायः एक-से ही नपे-तुले चरित्रो और भावों की सृष्टि होने लगी। कृष्ण-काव्य भी क्रमशः रूढ़ हो गया, और महाभारत की-सी चरित्र-सृष्टि तथा सूरदासजी की-सी वास्तविक भाव-सृष्टि के स्थान पर केवल भाव की अतर्दशाओ का चित्रण होने लगा। प्रधानता रूढ़ कृष्ण की हो गई और काव्य तथा संस्कृति का स्वतंत्र विकास स्थगित हो गया। यह तो ह्रास-कालीन भक्ति-काव्य की दशा थी।

दूसरी ओर जिनकी दृष्टि स्थूल और लौकिक थी, वे कवि विविध प्रकार के नायक-नायिकाओं की सृष्टि तथा शृङ्गार-रस का कागजी और विकृत निरूपण करने लगे। उक्त दोनों ही स्थितियाँ देश की वास्तविक सांस्कृतिक प्रगति में बाधक ही सिद्ध हुईं।

प्रसादजी के काव्यों में नवीन सांस्कृतिक स्मृति-चिह्न तो हैं ही, मानव-जीवन की स्थितियों और प्रकृत भावनाओं को ग्रहण करनेवाली बौद्धिकता का पूर्ण सत्कार भी है। उसके रूढ़िबद्ध होने की संभावना नहीं है। किन्तु प्रसादजी का काव्य कोरमकोर बौद्धिक या प्राकृतिक स्तर पर नहीं है। मानवीय और प्राकृतिक है, परन्तु सूक्ष्म और कल्पना-प्रधान है और एक अतिशय मनोहर रहस्य की आभा से अनुरंजित भी है। प्रसादजी का रहस्यवाद शक्ति-पूर्ण सुदृढ़ मानवता का विकास अपनी छत्रछाया में करता है, तथा अपर कोई लक्ष्य नहीं रखता। इसीलिए हम उसे प्राकृतिक (आरोप) रहस्यवाद कहते हैं, जो सूफी (परोक्ष) रहस्यवाद से स्पष्टत. भिन्न है।

प्रसंगतः यहाँ हम यह भी कहना चाहते हैं कि आधुनिक काव्य में इसी अपरोक्ष रहस्यवाद के विभिन्न रूपों की प्रचुर अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। वे विभिन्न रूप (१) प्रकृति-संबंधी, (२) प्रेम-संबंधी तथा (३) सौन्दर्य-संबंधी हैं। इन्हे हम प्राकृतिक रहस्यवाद इसलिए कहते हैं कि इनका घनिष्ठ संबंध व्यक्त प्रकृति के रूपों, मानव मनोभावों आदि से है और ये उस पारमार्थिक रहस्यवाद से भिन्न हैं जो परोक्ष आदर्श की प्रतिष्ठा करता है तथा जिसकी प्रधान धाराएँ निर्गुण, सगुण तथा सूफी काव्य में प्रवाहित हुई हैं।

(१९३२ जुलाई)

प्रौढ़तर प्रयोग

(कामायनी)

श्रीयुत् प्रसादजी की काव्य-पुस्तक 'कामायनी' को प्रकाशित हुए कई महीने हो गये हैं। मेरे देखने में अब तक उसकी कोई सुन्दर समीक्षा नहीं आयी। सम्भव है, लोग उसे पढ़ कर उस पर विचार कर रहे हों। ऐसे भी कुछ होंगे, जो उसका रस लेकर तृप्त होकर और कामों में लग गये हों। कुछ उसे पढकर अपने अनुकूल न पाकर चुपचाप रख कर बैठ गये होंगे। बहुत ऐसे होंगे जिनकी समझ में ही पुस्तक न आयी होगी। पाठक तो सभी प्रकार के होते हैं। कुछ केवल कथा चाहते हैं, उद्वेग से भरी हुई; कुछ केवल भाषा के अभिलाषी होते हैं, सुन्दर शब्दों के, विचित्र वाक्यों, अनूठे अनुबन्धों के। कुछ को विचारों की ही खोज रहती है, अधिक से अधिक अपने ही विचारों की, आदर्शों की। कुछ बेचारों को पुस्तकें पढ़ने और समझने की चेष्टा तो रहती है, पर उनकी समझ मे वे आती नहीं। नयी शैली के अनभ्यास के या अल्प योग्यता के कारण हिन्दी में ऐसे ही पाठकों की अधिक सख्या है। अन्धश्रद्धा और अश्रद्धा आदि इसी के परिणाम हैं। पर इस विषय की अधिक चर्चा करना यहाँ उचित न होगा।

'कामायनी' प्रसादजी की अब तक की कृतियों में अंतिम है। अंतिम ही नहीं विकास और विस्तार की दृष्टि से वह अन्यतम भी है। एक कृती कवि तो प्रसादजी को सभी मानते हैं, पर उनका कर्तृत्व क्या है, यह बहुतों को नहीं मालूम। लोगों की उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं, जो सामयिक पत्रों और पुस्तकों मे प्रकाशित हो चुकी हैं। उनसे प्रकट होता है कि प्रसादजी के काव्य के विषय में लोगों के मनों में बहुत-सी भ्रान्तियाँ भरी हुई हैं। इनका कारण चाहे जो हो, पर जब तक इनका निवारण नहीं होता, तब तक कवि की यह कृति 'कामायनी' ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकती। इसलिए मैं सब से पहले उन भ्रान्तियों को ही लक्ष्य कर कुछ कहूँगा और इस क्रम से कहने की चेष्टा करूँगा जिसमें उन सभी अन्यथा विचारों पर दृष्टि पड़ जाय, साथ ही 'कामायनी' की समीक्षा में उससे प्रत्यक्ष सहायता भी मिले।

निश्चय ही यहाँ संक्षेप में ही सारी बातें कही जा सकेंगी; क्योंकि विस्तार करने का अवकाश नहीं है।

कुछ लोग 'कामायनी' के कवि को कोरा कवि, भावुक या 'सेंटिमेंटलिस्ट' समझते हैं। कोरा कवि उसे कहते हैं जिसकी भावना का कोई सुनिश्चित बौद्धिक आधार न हो, न जिसकी भावना किसी निश्चित आधार का निर्माण करती हो, न जिसके मूल में दृढ़ता हो, न मध्य में न अन्त मे। मूल में दृढ़ता उसे कहते हैं जो किसी सुनिर्दिष्ट लक्ष्य, जीवनानुभव या समस्या को लेकर आरम्भ होती है और उसका कलात्मक उद्घाटन करके समाप्त हो जाती है। मध्य की दृढ़ता वह है जिसका आदि-अंत कितना ही काल्पनिक अथवा अज्ञेय हो, किन्तु जिसकी काव्यगत वर्णना सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार रखती है। अंत की दृढ़ता वह है जो न किसी लक्ष्य-विशेष को लेकर आरम्भ हुई, न जिसका उपादान ही अधिक मनोवैज्ञानिक है, किन्तु जो मुख्य रूप से किसी व्यापक तत्त्व का प्रकाश करती है। इन तीनों दृढ़ताओं को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आदि की दृढ़ता का उदाहरण आधुनिक साहित्यिक रचनाएँ विशेषकर इब्सन आदि का साहित्य है, मध्य की दृढ़ता का एक अच्छा उदाहरण बाण की 'कादंबरी' है, न उसके मूल में कुछ है न अन्त में। वह सब ओर से कल्पना पर ही स्थित है। किन्तु उसकी वर्णन में बड़े ही परिष्कृत सूक्ष्म, किन्तु सुस्पष्ट मानसिक सत्य का आधार है। इसी से वह इतनी रसपूर्ण रचना बन सकी। अंत की दृढ़ता का दृष्टांत रामायण आदि काव्य हैं, जो एक उत्तम सत्ता के आश्रय से सारी मानवीय समस्याओं का समाधान उसी एक में कर लेते हैं।

इन तीनों में सबसे पृथक् किन्तु इसमें सबसे अधिक दूसरी से मिलती हुई कोरे भावुक कवियों की कृतियाँ हैं। कादंबरी की भाँति ये भी कोरी कल्पना पर स्थित होती हैं, ये भी शब्दों के इन्द्रजाल से हमें विस्मित करना, हँसाना-रुलाना चाहती हैं, किन्तु यह काम वे नहीं कर पातीं। कादंबरी की कल्पना का कोई आधार या उद्देश्य प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु परोक्ष में प्रेम की अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु-स्थिति के चित्र उसमें हैं, जिनके कारण वह उच्च काव्य की पदवी पर प्रतिष्ठित है। ऐसी कोई वस्तु-स्थिति कोरे भावुकों के काव्य में नहीं हो सकती। न तो उनकी भावना के मूल मे कोई सुदृढ मनोविज्ञान होता है और न उसके चित्रण में ही उच्चतर कल्पना और काव्योत्कर्ष की आभा दीख

पड़ती है। ऐसे काव्य की, जिसमें केवल भावना ही भावना है, एक अनिर्दिष्ट बहाव ही बहाव है, आए दिन अतिमात्रा हो रही है।

प्रश्न यह है कि क्या 'प्रसाद' जी ऐसे ही भावुक हैं? जो लोग ऐसा कहते हैं, वे प्रायः उनकी प्रारम्भिक रचनाओं का उदाहरण दिया करते हैं। साथ ही वे प्रसादजी की अलकृत भाषावाली आख्यायिकाओं का भी इस प्रसग में स्मरण कराते हैं। यह सच है कि सभी कवियों की भावना आरम्भिक अवस्था में परिपुष्ट नहीं होती, उनमें असबद्ध और अहेतुक भावुकता हुआ करती है, किन्तु यह प्रसादजी की प्रकृति की बात नहीं है। यह तो अवस्था-जन्य आरोप ही कहा जा सकता है। अवस्थाजन्य ही नहीं, इसमे हिन्दी की उस समय के स्थितिजन्य प्रभाव भी हैं। उस समय हिन्दी एक प्रकार की कट्टर सुधारवादिता के चक्र से होकर गुजर रही थी। चित्त की जो अवस्था किसी वस्तु के विकृत रूप को देख कर उस वस्तु से ही घृणा करने की हुआ करती है, प्राय. वैसी अवस्था उस समय हिन्दी की भी थी। उस अवस्था मे मनोवृत्तियाँ प्रायः संकुचित हो जाती हैं और एक प्रकार की ओछी तथा अव्यावहारिक करुणा का भाव मन पर अधिकार कर लेता है, यही कोरी भावुकता उस समय के साहित्य में प्रतिफलित हुई है। शृंगाररस के विरोध में जो जिहाद चला, उसने वाह्य और आन्तरिक प्रकृति के बहुत-से अंशों को अस्पृश्य बना दिया। श्री-शोभा का नाम लेना ही अपराध हो गया था। भक्त-कवियों ने तो शोभा और सौन्दर्य के सुन्दर आदर्श सीता, राधा, राम, कृष्ण आदि की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् संसार को 'सियाराममय' घोषित किया, किन्तु इन सुधारकों ने तो आरम्भ से ही अपनी दृष्टि संकुचित कर ली। फलतः साहित्य में शक्तिहीन करुण भावुकता के राग अलापे जाने लगे। प्रसादजी पर भी इस भावुकता का प्रभाव पड़ा, पर वे इसके वशीभूत नहीं हुए।

वशीभूत नहीं हुए, यही नहीं, वे इसके विरोधी हुए। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्रायः सबसे पहले इसे भावुकता के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने ही सर्वप्रथम उदय होती हुई ताराओं और खिलती हुई कलियों का सौन्दर्य देखा और पहचाना। कारण यही है कि वे स्वय हिन्दी-काव्याकाश के उदय होती हुई तारायें और खिलते हुए पुष्प थे। महाराणा प्रताप और अहल्याबाई के नामों में ही सब कुछ नहीं है, इस विराट् विश्व में उनके बाहर भी कुछ है, यह बात हिन्दी में प्रसादजी ने सबसे

पहले हमें समझने को दी। यह अवश्य है कि उन्होंने संकेतात्मक शैली से—रहस्य के रूप में—प्राकृतिक चित्रण किये हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि उन वस्तुओं की सत्ता से कवि का उतना संबंध नहीं है जितना उनसे प्राप्त होने वाले सकेतों से है। दूसरे शब्दों में प्रकृति उनके लिए संकेतमात्र है, उसका कोई वास्तविक सौन्दर्य नहीं। किन्तु हमें तो विचार इस बात पर करना चाहिए कि जिस समय हिन्दी में विस्तृत प्रकृति की ओर किसी की दृष्टि न थी, उस समय प्रसादजी की दृष्टि उस पर गयी। यदि वह संकेत रूप में ही गयी तो भी गयी और सकेत के साथ-साथ वह (प्रकृति) भी रही फिर हमें यह भी देखना होगा कि प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर चलने वाले प्रसादज के सकेतों में संकेत किस वस्तु के प्रति है और उन सकेतों के रहते हुए वास्तविक प्राकृतिक चित्रण भी कुछ है या नहीं।

ध्यान देने पर यह प्रकट होता है कि प्रसादजी के सकेत भी किसी विराट् वस्तु के प्रति हैं जो प्रधानतः प्रेम-स्वरूप है। वस्तु के विराट् और प्रेम-स्वरूप होने के संकेतों से प्रसादजी ने अपने युग की दृष्टि और भी व्यापक बनायी। प्रेम और परमात्मा (अथवा विराट् प्रकृति) दोनों ही दृष्टि का अंतरंग और वहिरग उन्मेष करनेवाले प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सकेतित वस्तु के द्वारा भी स्वभावतः उसी उद्देश्य की पूर्ति हुई, जिसकी पूर्ति उक्त प्राकृतिक वर्णनों और सकेतों-द्वारा हो रही थी। इस प्रकार की दोहरी प्रगति का सूत्रपात प्रसादजी ने किया। प्रकृति के द्वारा प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक दृष्टि पड़ती गयी और जहाँ इन दोनों का विकासपूर्ण सामजस्य हो गया है, वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त गभीर और समुन्नत हो उठा है।

उनके आरम्भिक वर्णनों में जहाँ प्रकृति सकेतमात्र तथा सकेतित वस्तु अत्यधिक प्रमुख हो गयी है, वहाँ तारतम्य ठीक नहीं मालूम पड़ता। प्रायः लोग उसे भावुकता, कृत्रिमता या वाग्जाल कहा करते हैं। किन्तु ऐसा वे ही कह सकते हैं, जिन्होंने साहित्य के इतिहास पर ध्यान नहीं दिया। उस समय की प्रमुख काव्य-वस्तु पौराणिक पात्रों की सीमा से एक कदम आगे बढ़कर ऐतिहासिक चरित्रों पर पहुँचने में प्रसादजी की भावुकता नहीं प्रकट होती, वस्तु-स्थिति की ओर अग्रसर होने का यह उनका प्रथम प्रयास था। और जिस प्रकार प्रसादजी ने प्राकृतिक वस्तु का प्रेम-तत्त्व से सम्मिश्रण करके प्रकृति-पुरुष

का सयोग या मथन कराया, वह भी तत्कालीन आदर्शोन्मुखी ('प्यूरीटैनिक') विचार-धारा में वस्तु-तत्त्व का ही पुट था। उन्होंने अपने पूर्वयुग की कृत्रिम काल्पनिकता के स्थान पर वास्तविक आनन्दात्मक काव्य-प्रतीकों को चुना और उन्हें ऊँची रहस्यभूमि पर ले जाकर आध्यात्मिक काव्यधारा में मिला दिया। प्रसादजी के काव्य और नाटकों में भी निरंतर एक ही प्रवाह बह रहा था, वे सतत अदृष्ट से दृष्ट की ओर आ रहे थे।

मेरा यह दृढ़ विचार है कि प्रसादजो आधुनिक हिन्दी में वास्तववाद, वस्तुतत्र के भी प्रवर्तक हैं। हिन्दी के बहुत-से विद्वान् इस बात को मानते हैं या नहीं, मैं नहीं जानता, जानते हैं या नहीं यह भी नहीं जानता; मै तो इसे मानता ही हूँ। इसका थोड़ा और विवेचन कर लेना अच्छा होगा। काव्यवस्तु में पवित्रतावादी प्रतीकों को छोड़कर आनन्दवादी प्रतीको को चुनना और उनका आध्यात्मीकरण हम ऊपर देख चुके हैं। यह मूलतः यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति है, यद्यपि सूक्ष्म कल्पना के अतिरेक से यह रहस्यमय हो गई है। फिर प्रसादजी के भाव-चित्रणों में भी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता लाने की प्रथम बार चेष्टा की गई है। यह तो हम ऊपर कह चुके हैं कि उनके काव्य-विषय अदृष्ट से दृष्ट और असामान्य से सामान्य की ओर आ रहे थे। यह भी यथार्थ की ओर प्रगति है। उनकी और कृतियों में एक अंतर्निहित बौद्धिक प्रवाह भी पाया जाता है, जो मानवीय और इस युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का परिचायक है। प्रसादजी की इस मुख्य देन का हिन्दी मे अभी यथेष्ट सम्मान नहीं है। अभी लोगों को इस विषय की कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मालूम देती। ऊपर मैंने उन लोगों की बात कही जो प्रसादजी को कोरा भावुक समझने की सबसे मोटी गलती करते हैं। उनका समाधान यदि अब तक नहीं हुआ तो शायद आगे हो। उनके पश्चात् दूसरी गलती, जो पहली से कम मोटी है, उनकी प्रतीत होती है, जो प्रसादजी को प्राचीनवादी, विशेषतः बौद्ध-संस्कृति का उपासक मानते हैं। यद्यपि इसे वे कोरी भावुकता या भावावेश नहीं कहते, फिर भी उससे मिलती-जुलती पुरातनवादिता तो मानते ही हैं। मुझे भय है कि इस प्रकार का विचार प्रसादजी के संबंध में सबसे अधिक फैला हुआ है। मैं कह चुका हूँ कि पौराणिक पात्रों को छोड़कर ऐतिहासिक बौद्धकालीन पात्रों तक पहुँचने मे अदृष्ट से दृष्ट की ओर ही अग्रसर होने का भाव था। इतना ही नहीं, हमें

यह भी देखना होगा कि इन बौद्धकालीन चरित्रों को प्रसादजी ने क्यों और किस रूप में कथावस्तु का उपादान बनाया है? क्या इसलिए कि प्रसादजी बौद्ध हैं, या प्राचीनता के भक्त, आदर्शवादी हैं? मुझे ऐसी बात नहीं मालूम होती। बौद्धकालीन भारत हमारे देश का सुवर्ण-युग कहा जाता है। उसकी ओर सबका आकर्षित होना स्वाभाविक है। किन्तु प्रसादजी उसकी ओर इसलिए नहीं आकर्षित हुए कि वह सुवर्ण-युग था, उसकी स्तुति करें, वरन् यह जानने के लिए वहाँ गये कि वह सुवर्ण-युग क्यों था, उसकी विशेषताएँ क्या थीं, उसमें कोई ऐसी वस्तु है जो हमारे आज के अनुकरण का आधार बन सकती है। इतने अंशों में प्रसादजी बौद्ध या बुद्धिवादी भले ही हों, बौद्ध-धर्म से उनका विशेष संपर्क नहीं जान पड़ता। प्रसादजी ने बौद्ध-साहित्य का अन्वेषण धार्मिक दृष्टि से नहीं किया, केवल मनोविज्ञान की वह दुर्लभ सामग्री प्राप्त करने के लिए किया जो परवर्ती हिंदू धर्म की निम्नकोटि की धार्मिकता या आध्यात्मिकता में विलुप्त-सी हो रही थी। ये सारे प्रयास कवि को यथार्थवाद की ओर ही ले जानेवाले सिद्ध हुए।

इसके मैं दो-एक उदाहरण भी दूँगा। बौद्ध-कालीन चरित्रों के अध्ययन से प्रसादजी ने एक मुख्य वस्तु निकाली नारी-शक्ति का सम्मान, दूसरी मुख्य वस्तु निकाली अहिंसा अर्थात् पतितों के प्रति करुणा का भाव। बिना करुणा के—सहानुभूति के—हम किसी के अन्तस्थल में प्रवेश नहीं कर सकते। करुणा का एक धार्मिक स्वरूप है, सबके लिए त्याग करना। उसका एक मनोवैज्ञानिक स्वरूप है सबकी स्थिति का रहस्य समझना। प्रसादजी ने निश्चय ही इन दोनों पहलुओं का दिग्दर्शन किया है, किन्तु इनमें से दूसरे की ओर उनका ध्यान स्वभावतः अधिक है। इसी प्रकार नारी-शक्ति का सम्मान आदर्शवाद की कोई उड़ान नहीं है। उस शक्ति के वास्तविक स्वरूप और रहस्य के संधान की चेष्टा है जिसे भारतवासियों को खोये बहुत दिन हो गये।

प्राचीन साहित्य का विलोड़न प्रसादजी का साध्य नहीं है, वह साधन-मात्र है। प्राचीन कथावस्तुओं का ग्रहण मुख्यतः इस अभिप्राय से है कि हम उस समय की उन्नतिशील और सर्वतोमुखी चेतना को देखें और उसमें जो कुछ लेने लायक है उसे लें। इसमें प्रसादजी ने अपनी कल्पना का भी यथेष्ट उपयोग किया है और बड़ी सावधानी से नवीन दृष्टि का विन्यास और

समर्थन करने की चेष्टा की है। रूढ़ संस्कारों और विचारपद्धतियों को तोड़कर नवीन विचारस्वातंत्र्य, उदारता और मानवीयता का शिलान्यास प्रसादजी ने किया। आधुनिक समानता और जनसत्तात्मक भावों का पूरा प्रभाव प्रसादजी के साहित्य में है। कोरमकोर आदर्शस्थापन को छोड़कर वे नवीन वास्तविकता की ओर कई कदम आगे बढ़े हैं। उत्तरोत्तर अपने नाटकों मे उन्होंने सामयिक समस्याओं को अधिकाधिक स्थान दिया है और 'ध्रुवस्वामिनी' में आकर तो वे एक अत्यन्त आधुनिक प्रश्न, तलाक की प्रथा का निर्देश करते देखे जाते हैं। यह ठीक है कि प्रसादजी बर्नार्ड शा की तरह प्रचंड बुद्धिवादी नहीं हैं किन्तु वे उसी की तरह आधुनिक हैं, इसमें सदेह नहीं।

आधुनिक वे इस अर्थ में हैं कि प्रत्येक वस्तु को खुली निगाह से देख सकते और उसकी धारणा बना सकते हैं। बुद्धिवादी वे इसलिए नहीं हैं कि केवल तर्क के द्वारा वे किसी तथ्य पर नहीं पहुँचना चाहते। उनके विचार से बुद्धि ही दुःख और सुख, पाप और पुण्य आदि के भेदों का विस्तार करती और परिणाम में द्वैत, द्विविधा या दु ख बढ़ाती है आशा, चिन्ता, बुद्धि, मनीषा ये सभी दु ख के ही नाम हैं। कोरा बुद्धिवाद या तो मनुष्य को सासारिक कर्तव्यों से विरक्त बनाकर घर से बाहर निर्जन में निकलवा देगा या संसार की घोर वासनाओं में लिप्त करा देगा। और यदि इन दोनों के बीच मे कोई रहा तो वह सत्य से दूर, अपने बाहरी और भीतरी आचरणों में भेद लिए हुए, प्रति क्षण चिन्तित और अधकचरा-सा मनुष्य होगा। प्रसादजी ऐसे बुद्धिवादी नहीं हैं। मैं कह चुका हूँ कि वे प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्त्व से सन्निहित करके देखनेवाले यथार्थवादी हैं। वे स्वयं शिव के उपासक हैं, किन्तु विस्तृत प्रकृति का आनन्द लेने के लिए शक्ति की उपासना भी करते हैं मेरी समझ मे इसीलिए वे आधुनिक हैं, आधुनिक मनुष्यता के प्रतीक हैं।

यहाँ शिव और शक्ति की उपासना की बात थोड़ी और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। शिव ही एक मात्र प्रेम या आनन्द का तत्त्व है, किन्तु यह आनन्द अगाध और निश्चल होने के कारण बाह्यसौन्दर्यहीन है। इसमें सौन्दर्य की तरगे उत्पन्न करने के लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह शक्ति ही परिपूर्ण प्रकृति के रूप में अपना प्रसार करती है। प्रकृति के विषय में भिन्न-भिन्न दर्शनों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। यहाँ हमें उन

धारणाओं से प्रयोजन नहीं। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त होगा कि प्रसादजी उत्तरोत्तर प्रकृति की इन सौंदर्य-तरंगों से परिचित और प्रभावित होते गये हैं। बहुत दिन नहीं हुए जब वे मुझसे कह रहे थे कि प्रत्येक शरीरधारी को शिव-रूप जान कर ही मैं "आइए प्रभु!" कहा करता हूँ। निश्चय ही इन अनंत शिव-रूप प्रभुओं में अमृत और हलाहल की असंख्य मात्राएँ मिलती हैं, किन्तु शिव के उपासक को तो ये दोनों ही समान रूप से आस्वाद्य हैं। इन दोनों को पीने की जो शक्ति चाहिये, उसी को साधना शिवोपासक प्रसाद जी ने निरंतर की है। इसीलिए मैं उन्हें दार्शनिक दृष्टि से निष्ठावान यथार्थवादी कवि कहता हूँ। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि यद्यपि प्रसादजी का काव्य, भावना में ऊँचा उठा कर, आध्यात्मिक रहस्यभूमि को स्पर्श करता है, किंतु वह युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों को अपने अंदर लेने में पूर्णतः समर्थ है। इसी कारण प्रसादजी नए युग-जीवन का निरूपण अपने काव्य में कर सके हैं। यही नहीं, वे नए युग के प्रतिनिधि कवि कहला सके हैं।

इसी आधुनिक भावधारा का प्रतीक "कामायनी" काव्य है। उसमें इसी मनुष्यता का आवाहन किया गया है। इतना कह देने पर शायद ऊपर का विषयान्तर अब दूर हो जाय। इस अत्यावश्यक तथ्य को स्पष्ट रीति से प्रकट करने के लिए ऊपर की पूरी भूमिका बाँधी गयी है, और यह मेरे विचार से विशेषतः प्रसादजी. तथा सामान्यतः आधुनिक कविता के संबंध में फैले हुए भ्रम को दूर करने के लिए आवश्यक भी थी। यह भ्रम साधारण जनता में ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों तक मे, दिखायी देता है। हिन्दी के श्रेष्ठ समीक्षक और मेरे शिक्षक पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल ने भी नवीन काव्य के इस स्वरूप की ओर ध्यान नहीं दिया। इस कारण उनसे इस विषय में कई बार गलतफहमियाँ हुई हैं। शुक्लजी स्वयं पुरानी शैली के आदर्शवादी हैं, वे आधुनिक यथार्थवाद की विचारधारा से या तो परिचित ही नहीं या अन्यमनस्क हैं। मुझे ठीक स्मरण नहीं, उन्होंने 'काव्य मे रहस्यवाद' या अन्य किसी पुस्तक में यह घोषित किया है कि रहस्यवाद (आधुनिक कविता) की इस बेतुकी तान की अपेक्षा तो गद्य-काव्य के रूप में लिखी गयी उक्तियाँ अच्छी हैं। शुक्लजी का आशय उस गद्य-काव्य से है जो आदर्शवादी व्यक्तियों के द्वारा आध्यात्मिक सत्ता को लक्ष्य करके लिखा गया है। किन्तु शुक्लजी इस यथार्थोन्मुख मानव रहस्य-काव्य और उस आदर्शवादी अध्यात्म-काव्य

के मौलिक अन्तर की ओर ध्यान नहीं देते। आदर्श और यथार्थ का संपूर्ण मनोविज्ञान ही एक दूसरे से पृथक् हो गया है। अपने देश में बौद्धिक विचार-धाराएँ और मतमतान्तर भी धर्म की छत्रछाया में ही विकसित हुए हैं। इसलिए आदर्शवाद और यथार्थवाद का दार्शनिक अतर समझने के लिए भी हमें धार्मिक इतिहास की ही शरण लेनी पड़ती है। यह अच्छा है, यह बुरा है, आदर्शवादियों का यह महावाक्य है। और जब अच्छे और बुरे की खोज होने लगी, तब ससार में कुछ भी अच्छा न दीखा। इसलिए इसे छोड़ो, उसे छोड़ो सब कुछ छोड़ो का प्राबल्य हो गया। नारी को मलमूत्र की खान समझ कर छोड़ दो, अपने को भी मृत्यु का ,कवल समझ कर छोड़ दो। इस विकृत ससार के परे जो अविकृत सत्ता है, उसी की शरण लो। इसका नतीजा यह हुआ कि अविकृत सत्ता जगतबाह्य या अलौकिक हो गई और वही एकमात्र सौष्ठव की प्रतीक हुई। मानव-जीवन का महत्त्व फीका पड़ गया। यह सही है कि मनुष्य इसे सहन न कर सका और इसी अविकृत सत्ता को मानव रूप देकर उसके अवतारों की कथाएँ कहीं, जिसमें जीवन की व्यापक आस्था पुनः आ गई। किन्तु फिर भी इसमें निहित दार्शनिक दृष्टि प्रगतिशील मानव-संस्कृति का पूरा-पूरा साथ न दे सकी। अवतारी चरित्रों ने प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपनी लीक बना दी और उपासना का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह आदर्शवाद की दूसरी लीक बनी। साहित्य में जब यह विचार-धारा फैली, तब दो परस्पर-विरोधी गुणों के नायकों का संघर्ष और भले का भला तथा बुरे का बुरा नतीजा दिखा कर काव्य समाप्त किया गया। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में रहने वाली अतःकरण वृत्ति कुछ विशेष आचारों और मनोभावों के लिए रूढ़ हो गई। मानव आचार और कर्तव्यों ने अपना बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक आधार खो दिया। यह भला-बुरा, ईश्वर-शैतान है क्या, इस पर आदर्शवादी विचार नहीं करते, या करते हैं तो घर या मनुष्य-क्षेत्र के बाहर जाकर। इसके साथ ही यथार्थवाद की एक विचार धारा प्राचीन काल से ही चली आ रही है, जिसे यहाँ के राजर्षियों या कर्मयोगियों ने विशेष-रूप से पहचाना था और पहचान कर अनुसरण भी किया था। इसी के संबंध में गीता में श्रीकृष्णचन्द्रजी ने कहा है :—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परंपरा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

यह योग श्रीकृष्ण ने विवस्वान् (अर्थात् सूर्य) को बतलाया था। विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया। ऐसी परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु दीर्घकाल के अनन्तर यही योग इस लोक में नष्ट हो गया। निश्चय ही मनु-स्मृति आदि ग्रन्थ इसी योग के अनुसार लिखे गये हैं। संक्षेप में इसका स्वरूप गीता में इस प्रकार बतलाया गया है :—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

... ...

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

गीता ४ (१६, १८)

इसका अर्थ करते हुए लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म-संबंधिनी "यह तात्त्विक दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी की है, काम्य कर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यास-मार्गियों क नहीं है।" इसका अर्थ यह भी है, कि यहाँ भले-बुरे का रूढ़िवद्ध प्रश्न नहीं उठता और न कर्म त्याग करने का ही प्रश्न आता है। यहाँ केवल निष्काम कर्म की शिक्षा है। यह वह शिक्षा है, जिसमें भले और बुरे के अनुसंधान की अपेक्षा अशेष प्रगतिशील मानव व्यापारों के स्वतंत्र परीक्षण की अधिक प्रवृत्ति है। यही यथार्थवादियों का लक्ष्य है। यहाँ दृष्टि निष्काम होने के कारण द्रष्टा को प्रकृति के अपार नवीन क्षेत्रों मे जाने, नई सांस्कृतिक प्रगतियों का परिचय पाने और सारी स्थितियों की टोह लेने की पूर्ण सुविधा होती है। मेरे कहने का यह प्रयोजन नहीं कि ऊपर आदर्श और यथार्थवाद की मूल दार्शनिक प्रेरणाओं का जिस रूप से संकेत किया गया है उसे ज्यों का त्यों मान लिया जाय। उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक नहीं था। यहाँ तो उपर्युक्त दोनों वादों की पृथकता दिखा देना ही एक मात्र उद्देश्य है।

साहित्य-समीक्षा में भी ये दोनों विचारधाराएँ पृथक्-पृथक् देखी जा सकती हैं। पहली विचार-धारा के अनुसार 'रस' की निष्पत्ति संघर्ष से ही होती है, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भले और बुरे के द्वन्द्व से। इसी विचार-धारा के आधुनिक प्रतिनिधि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हैं। किन्तु यथार्थवादी इन समस्त द्वंद्वों का समाहार एक नित्य सत्ता में करते हैं और खुली आँख से उस सत्ता की सम्पूर्ण लीला का रस लेते हैं। यह लीला या अभिव्यक्ति ही रस है। प्रवृत्ति और निवृत्ति की कोई लीक न बनाकर यथार्थवादी सामने आई जगत् की स्थितिमात्र का साक्षात्कार करना चाहता, और उन स्थितियों में मानव-मन की गतियों का संकलन और कर्तव्यों का निर्धारण करने की चेष्टा करता है। वह आध्यात्मिक ऐकान्तिकता या नपी-तुली प्रवृत्ति निवृत्ति की शिक्षा देकर संसार की परिवर्तनशील यथार्थताओं से हाथ समेटने और आँखें मूँदने का अभ्यास न कर संसार की विविध वास्तविकता के अभिज्ञानपूर्वक सर्वव्यापक आत्मा का जागरूक अनुभव करना चाहता है। काव्य में यह स्वभावतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक आकर्षित है। यह आँख मूँद कर भले बुरे का द्वंद्व नहीं देख सकता, खुली आँखों सारे रंगों, रूपों, उनकी सम्पूर्ण भंगिमाओं का रस लेगा। संक्षेप में वह रहस्य की ओर लक्ष्य रखेगा, भले और बुरे के द्वैत की ओर नहीं। इसकी दृष्टि मुख्यतः बौद्धिक होगी और यह किसी गतानुगतिक 'सु' और 'कु' का पक्ष नहीं पकड़ सकेगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति इसके लिए कोई पूर्व निर्दिष्ट लीक नहीं होगी, जीवन के पग-पग की ताजी पहचान होगी।

शुक्लजी की निवृत्ति और प्रवृत्ति एक नपी-तुली और समय विशेष की निवृत्ति-प्रवृत्ति है। उसका आधार वह जीवन-उपक्रम है जो 'रामचरितमानस' जैसे महाकाव्य में पाया जाता है। मानस के आदर्श चरित्रों से, जो एक महाकाव्य के ही उपयुक्त हैं, सामान्य जीवन-व्यवहारों की बहुरूपता और सामान्यता की आशा नहीं की जा सकती जो नित्य के जीवन में दिखाई देती है। 'मानस' के अतिरिक्त भी मानव-जीवन है, उनकी विपुल आकांक्षाएँ और प्रवृत्तियाँ हैं (जिन्हें हम 'भली' या 'बुरी' विशेषणों से पुकारा करते हैं किन्तु जो हैं प्रवृत्तियाँ ही), किन्तु वह महाकाव्योचित प्रवृत्ति नहीं है। 'मानस' में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का सूत्र शुक्लजी ने स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से ही पकड़ा है। उन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और

सांस्कृतिक भेदों की ओर उनकी दृष्टि नहीं, जिनका संकेत रामायण में मिलता है। न शुक्लजी की निगाह काव्य के रहस्यात्मक आधार (भगव त्सत्ता) पर गई है, जिसका स्थान-स्थान पर कवि ने निर्देश किया है। संक्षेप में, वे केवल बँधी हुई नैतिक और व्यावहारिक परिपाटी से ही सारी मीमासा करते हैं। जीवन की बहुरूपता और वास्तविकता की ओर उनकी नजर नहीं है। इसीलिए वे समय की बदली हुई प्रवृत्तियों, नैतिक मापदडों, मानव के बहुरूप मानसिक उद्वेगों और आकाक्षाओं का, जो नवीन काव्य के अनिवार्य अंग हैं, विचार न कर, रामचरितमानस की आदर्शवादिता तक ही सीमित हैं। और वह आदर्शवादिता भी वैष्णव आध्यात्मिक धारणाओं के अनुकूल न होकर पाश्चात्य व्यवहारवादियों से अधिक मेल खाती है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस'-जैसे अध्यात्म-प्रधान काव्य मे 'क्रोध' प्रवृत्ति के रूप में कहीं नहीं आया। वहाँ वह लीला या नाट्य का ही पर्याय माना जा सकता है। किन्तु शुक्लजी क्रोध को अनिवार्य प्रवृत्ति ही नहीं, सामाजिक उपयोगिता के भाव म ग्रहण करते हैं। यह 'मानस' के प्रति अन्याय है। दूसरी ओर शुक्लजी व्यवहारवादी दार्शनिकों के केवल ऊपरी और स्थूल निर्णयों को ही अपनाते हैं, उनकी भाँति सास्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों के अध्ययन और गतिशील व्यवस्था का निर्धारण नही कर सके हैं। यह मैं प्रसंगवश कह रहा हूँ। मेरे कहने का आशय यह नहीं कि रामचरितमानस की आदर्शवादिता काव्य का विषय नहीं है। काव्य ही नहीं, वह तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का विषय है। किन्तु मेरा कहना यह है कि मानव-जीवन की सीमा किसी भी काव्य या महाकाव्य के आदर्शों से आबद्ध नहीं की जा सकती।

'कामायनी' के साथ न्याय करने लिए मुझे ऊपर का अप्रिय प्रसंग उठाना पड़ा। इसके लिए मैं पुनः-पुन. क्षमप्रार्थी हूँ। प्रसादजी उस शिव-तत्व के उपासक हैं, जिसमे अमृत और हलाहल की सत्ताएँ एक-रस हो गई हैं। आदर्शवादी तो केवल नीति या अमरता के उपासक होते हैं जो संसार के बहुमुखी जीवन से तटस्थ होकर अपनी एक लीक बना जाते हैं। कामायनी का आरम्भ ही इस आदर्शवादी, देव-सृष्टि के विध्वंस के साथ होता है। यह इस बात का संकेत है कि जब देव-सभ्यता का अन्त होता है, तब मानव-सभ्यता की सृष्टि होती है। कामायनी का नायक मनु प्रथम मानव है, उसी

का आख्यान कामायनी में वर्णित है। यह मनु अमरों का वंशज है, वे अमर जो मर गये! यह एक मात्र मानव है जो देव-सृष्टि का प्रलय होने पर बच रहा है। स्पष्ट ही यह देवताओं से अधिक वीर्यवान होगा। प्रसादजी इसका वर्णन यों करते हैं :—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा
साधन करता सुर-स्मशान;
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।
... ...
अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

वह देवताओं के श्मशान का साधन कर रहा था। अमरों की मृत्यु पर विचार कर रहा था! निश्चय ही वह आदर्शवादी नहीं था, नहीं तो सिर पर हाथ रख कर सिर्फ रोता।

वह पूर्ण युवा था। उसके शरीर की एक झाँकी और लीजिए :—

चिन्ताकातर वदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

स्पष्ट है कि उसकी चिन्ता का आवेग केवल आगन्तुक था। यदि एक ओर थोड़ी-सी चिन्ता थी, तो वह उपेक्षा से भरी हुई, प्रलय की भी परवाह न करनेवाली, यौवन की तरंगिणी में बह गयी। मनु अपने प्रेत-पितरों की चिन्ता छोड़ कर पहाड़ के नीचे उतरा।

नीचे आकर, हरित भूमि में, काम-कन्या कामायनी से उसकी भेंट हुई। यह भी अच्छे अवसर पर आयी। इसकी सुन्दरता की क्या व्याख्या की जाय, काम की कन्या ही थी। संगीत-विद्या सीख कर आयी थी। मनु बेचारा क्या जाने! वह तो पूर्ण पौरुषवान् था, किन्तु नारी का उसे क्या परिचय! इसलिए नारी ने ही अपना परिचय अपने आप दे दिया। यह

परिचय सुन कर सैकड़ों आदर्शवादी नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे, किन्तु 'मनु' को इससे क्या ? वह अब तक का अखंड ब्रह्मचारी अब भी अपनी तपस्या की ही धुन में था। तब कामायनी ने उससे कहा :—

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग,
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश !

... ...

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त ।
काम मङ्गल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव-धाम ।

और साथ ही वैरागी आदर्शवादियों के लिए भी उसने दो-एक वाक्य कहे :—

यह नीड़ मनोहर कृत्यों का
यह विश्व कर्म-रङ्गस्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है ।
वे कितने ऐसे होते हैं
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं ।

इसके पश्चात् प्रेमी और प्रेमिका का परस्पर आकर्षित होना तथा अन्य विविध रमणीय प्रसङ्ग वर्णित हैं जो काव्य के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होंगे। किन्तु जिन्हें सुन कर तथाकथित आदर्शवादी शायद कोसों दूर भग जाय। वास्तविक आनन्दात्मक

काव्यप्रतीक का संग्रह, कर्म और संघर्ष का सदेश नई काव्यदिशा का सूचक है।

इसके पश्चात् कामायनी की कथा ऐसे स्थल पर पहुँचती है, जो उक्त आदर्शवाद को और भी चुनौती देता है। केवल सुखानुभव और विजय ही जीवन नहीं है, दुःखानुभव और पराजय भी जीवन है। इतने सुख के बाद इस सुखी दंपति के जीवन में दुःख के दिन भी आते हैं। कामायनी, मनु और एक उनका बच्चा, घर में अब तीन प्राणी हो गये हैं। मनु मृगया को जाते हैं, कामायनी तकली कातती है और बच्चा पढ़ता रहता है। किन्तु यह क्रम अधिक दिन नहीं चला। मनु की तृप्ति मृगया से ही नहीं हुई। अकेली कामायनी उनका परितोष नहीं कर सकी। मन में महत्वाकांक्षा जाग्रत हो चुकी थी। वे जीवन की अज्ञात गहनता में प्रवेश करने के लिए उद्विग्न हुए, जो आदर्श की बधी हुई लीक के भीतर निषिद्ध है। वे अपनी प्रणयिनी श्रद्धा (या कामायनी) को छोड़ कर सारस्वत देश पहुँचे। यहाँ की सम्राज्ञी इड़ा को एक राज्य-प्रबन्धक की आवश्यकता थी। मनु इस पद पर नियुक्त कर लिये गये। वे सारस्वत (या बौद्ध) प्रदेश के धीरे-धीरे सम्राट् ही बन गये। किन्तु सम्राज्ञी तो इड़ा (बुद्धि) थी, उसके लिए तो ये प्रबधक-मात्र थे। इन्हें सारस्वत देश के अधिपति बनने से ही सन्तोष नहीं था। ये तो इड़ा के अधिपति बनना चाहते थे यहाँ सघर्ष का सूत्रपात होना अवश्यंभावी था।

मनु ने यह सघर्ष भी मोल लिया। जब सारस्वत देश की प्रजा उनकी इस अनुचित आकांक्षा पर बिगड़ खड़ी हुई, तब मनु ने अकेले उसका सामना भी किया। वे सशस्त्र उससे लड़े, पर कब तक लड़ते! एक ओर वे अकेले, दूसरी ओर प्रजा उतनी; लड़ते-लड़ते मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मृत्यु की अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगे।

जिस मनु का इतना उत्थान हुआ था, क्या उसका इतना पतन भी हो सकता है? जिसने सुख के इतने दिन बिताये, क्या वह दुःख के ऐसे दिन भी देख सकता है? आदर्शवादी के लिए यह एक टेढ़ा प्रश्न है, किन्तु यथार्थवादी के पास इसका सीधा उत्तर है, 'क्यों नहीं, इस लीलामय की लीला में सब कुछ हो सकता है।' उसने मानव मन का ऐसा निर्माण किया है कि सुख और दुःख उत्थान और पतन उसकी एक ही झोंक में आते

और जाते हैं। ये सुख-दुःख, उत्थान-पतन, मन की गति पर निर्भर हैं। मन की ऐसी ही गति है, वास्तविकता इतनी ही है। सुख और दुःख, उत्थान और पतन तो मानो विवश इस मन के पीछे दौड़ा करते हैं।

इधर कामायनी (श्रद्धा) का जीवन भी भार हो गया। बिना मनु के उसकी स्थिति कहाँ ? अकेले पुत्र को लेकर वह कितने दिन रह सकती थी ? दुःख को बहुत-सी लम्बी रातें उसने काटीं। अन्त में एक रात भयानक स्वप्न देख कर वह वहाँ न रह सकी। बच्चे को लेकर वह घर से निकल पड़ी और भटकती हुई बहुत दिनों के बाद उसी नगर में जा पहुँची, जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े थे। वह उन्हें खोजती हुई अन्त में उनके पास पहुँची। मनु के मानो प्राण लौटे। उस समय का दोनों का मिलना कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है। उस समय के अत्यन्त मनोरम पदों की कुछ बानगी देना चाहता हूँ :—

मनु की उक्ति कामायनी के प्रति :—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था
तो तुम उसमें संतोष बनी।
कितना है उपहार तुम्हारा,
आश्रित मेरा प्रणय हुआ;
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।
किंतु अधम मैं समझ न पाया,
उस मङ्गल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष-शोक की छाया को।

झटका खाकर मनु के जीवन का प्रवाह एक बार फिर उसकी ओर मुड़ा है, जिसे वह छोड़ आया था। मनु के जीवन की यह कितनी स्वाभाविक गति है। वह फिर भी कहता है :—

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे,
जो तुम देना चाह रही।

क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु-धारा हो ढाल रही ।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका;
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका !

और अपने बच्चे के लिए, जिसे वह छोड़ आया था और जो अब किशोर हो चला है, उसने ये शब्द कहे :—

"यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अंश, कल्याण-कला !
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहाँ ढला;
सुखी रहे, सब सुखी रहे, बस
छोड़ो मुझ अपराधी को !"
... ...
श्रद्धा देख रही चुप मनु के
भीतर उठती आँधी को ।

किन्तु यह आँधी भी धीरे-धीरे प्रशमित हुई । जब मनु को श्रद्धा मिल गई, तब आँधी क्यों न थमती ? आखिर पुत्र को सासारिक अनुभव के लिए वहीं रख कर मनु ने श्रद्धा से कहा :—

"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने ।
मुक्त नील नभ के नीचे,
या कहीं गुहा में रह लेंगे;
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेंगे ।"

इस प्रकार जीवन की संध्या-वेला में दोनों मानसरोवर की ओर चले । जब महान् संघर्ष समाप्त कर राम सीता से मिले, तब बाकी क्या रहा ? पर अभिषेक फिर भी बाकी था । यहाँ भी अभिषेक ही बाकी है, किन्तु वह बिलकुल दूसरे ही प्रकार का । इस अभिषेक के अवसर पर कवि मानव-

जीवन का अमर वैषम्य दिखाता और उनमें सामरस्य का सन्देश सुनाता है। मनु और श्रद्धा पहाड़ी घाटियों को पार करते हुए चले आ रहे थे। मनु अब भी बीच-बीच में विचलित हो उठते थे, किन्तु श्रद्धा उनके साथ थी। बड़ी उचाई पर पहुँच कर मनु ने नीचे तीन बड़े-बड़े गोले देखे। पूछने पर श्रद्धा ने बतलाया, ये क्रमशः कर्म, भाव और ज्ञान के क्षेत्र हैं। ये तीनों आए दिन पृथक्-पृथक् हो गये हैं। कर्म का क्षेत्र काला अथवा तमोगुणी दिखाई देता है—

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता,
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही,
मतवाला यह सब समाज है।

'भाव-भूमि' को दिखाती हुई श्रद्धा बोली, यह लाल रंग की रजोमयी भूमि है। इसमें—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।

और अंत में ज्ञान-भूमि का संकेत करते हुए उसने कहा :—

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क-युक्ति से;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ संबंध-विधान मुक्ति से।

देखो वे सब सौम्य बने हैं,
किन्तु सशंकित हैं दोषों से;
वे संकेत दम्भ के चलते
भ्रू चालन मिस परितोषों से।
यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस, इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वञ्चित होने दो।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं;
मूल सत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

आधुनिक संन्यास-मार्ग पर यह काफी कड़ी टिप्पणी है। 'कर्म-भूमि' से प्रसादजी का आशय शरीर या भौतिक पदार्थों से और 'भाव-भूमि' से तात्पर्य मन या मानसिक पदार्थों से है। ज्ञान-भूमि से प्रयोजन आत्मा या अध्यात्म-तत्व से है। ये तीनों संप्रति एक दूसरे से पृथक् होकर पतन की अवस्था में पड़े हुए हैं। इस प्रसङ्ग में प्रसादजी ने बड़ी मार्मिक बातें कही हैं जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। मनु ने उन सब को देख कर विरक्ति से मुँह फेर लिया। तब श्रद्धा बोली :–

यही त्रिपुर है देखा तुमने,
तीन विंदु ज्योतिर्मय इतने;
अपने केन्द्र बने दुख सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने!
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडंबना है जीवन की!

आधुनिक जीवन की यह विडंबना प्रत्येक यथार्थवादी को बिना खटके नहीं रह सकती। इसी त्रिपुर (त्रिगुण, या त्रैत) का दाह पुराणों में शिवजी से कराया गया है। कामायनी के कवि ने यह कार्य 'श्रद्धा' की मुसकान द्वारा कराया है :—

महा ज्योति रेखा-सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे संबद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

... ...

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

अपूर्व तन्मयता का यह अवसर ही मनु के ऐहिक जीवन की चरम सिद्धि है। इसी शुभ अवसर पर मनु कामायनी के पुत्र और पुत्रवधू (इड़ा) भी एकत्र होते हैं, और वहीं उन दोनों का अभिषेक होता है। इस प्रकार यह मानव-परम्परा चलती है।

... ...

यदि यह कथा मनु और कामायनी की केवल व्यक्तिगत होती और इसमें कुछ भी संकेत न होता, तो भी यह कितनी परिष्कृत, स्वाभाविक तथा आधुनिक कथा थी। किन्तु यह पूर्ण रूप से सांकेतिक भी है। यह आधुनिक मानव-मात्र, नर-नारी-मात्र की एक प्रतिनिधि कथा या जीवनी का स्वरूप भी है। आज का मनुष्य मनु से भिन्न नहीं है, आज की नारी भले ही कामायनी से कुछ भिन्न हो। कामायनी सब प्रकार से मनु का उद्धार करती है। प्रसादजी की नारी-सृष्टि मानो पुरुषों का उद्धार करने के लिए ही हुई है। इस विषय में प्रसादजी की इतनी अडिग आस्था है कि इस सम्बन्ध में तर्क करना व्यर्थ ही होगा। यदि प्रसादजी की सारी स्वाभाविक रचना में किसी आदर्श की ओर झुकाव है, तो इसी नारी-आदर्श की ओर। यही आदर्श उन्हें एक श्रेष्ठ प्रेमाख्यानक कवि के पद पर प्रतिष्ठित कर सका (यद्यपि प्रसादजी कोरे प्रेमाख्यानक या 'रोमेण्टिक' कवि ही नहीं हैं)। यह झुकाव निरा आदर्शवाद ही नहीं, इसके कुछ कारण भी हैं। प्राचीन काल से लेकर अब तक हिन्दुओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है। इस्लाम भी इसकी मुमानियत नहीं। अकेले क्रिश्चियन धर्म में एक स्त्री के होते दूसरी स्त्री करना विहित नहीं है, किन्तु वहाँ भी एक के मर जाने पर दूसरा विवाह तो हो ही सकता है। और स्त्रियों के लिए सभी धर्मों मे काफी प्रतिबन्ध रखे गये हैं। क्या कोई पूछ सकता है कि यह अन्याय स्त्रियों के किस अपराध के दंड-स्वरूप है? कोई इसे जाति-शुद्धता की रक्षा और कोई वंश-परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक बतलाता है। किन्तु पुरुष-जाति के इस कलंक को कोई भी दलील मिटा नहीं सकती। उस सारी कृतज्ञता के बदले, जो

माता और नारी के उपकारों के प्रति हमें दिखानी थी, हमने बहुविवाह का व्रत ले लिया और उसे शास्त्र-सम्मत भी बना दिया ! नारी के जिन उपकारों से मनुष्य जन्म-जन्म में निष्कृति नहीं पा सकता, उसका बदला हमने खूब चुकाया। इससे बढ़कर घोरतर पाप पुरुष ने कोई दूसरा नहीं किया। पुरुषों के इसी परम्परागत पाप का प्रायश्चित्त कवि-हृदय प्रसादजी ने इस रूप में किया है। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से नारी पुरुष की समता की अधिकारिणी है और उसे केवल श्रद्धा-रूप अंकित करना उसकी स्पर्द्धायुक्त उन्नति में बाधक बनना भी कहा जा सकता है, किन्तु कामायनी के कवि का यह आशय स्वप्न में भी नहीं है। उसे नारी को विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में, सब प्रकार पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध करना है, साथ ही परस्पर प्रतियोगिता का भाव भी बचाये रखना है। इसी दोहरी मनोवृत्ति के कारण प्रसादजी ने कामायनी को एकदम आधुनिक नायिका नहीं बना दिया। इस सम्बन्ध में आधुनिकों को यदि एतराज हो, तो प्रसादजी के पास उसकी कोई दवा नहीं !

आधुनिकों की ओर से एक ही आक्षेप की आशंका की जा सकती है, वह यह कि प्रसादजी ने बुद्धितत्व की अकारण निन्दा की है। स्वयं बुद्धि के द्वारा अपने काव्य का उत्पादन जिसने इतना बलिष्ठ बनाया, वह यदि बुद्धि की निन्दा करे तो यह उसकी अकृतज्ञता भी कही जा सकती है। किन्तु मेरे विचार से बात यह नहीं है। यह 'कामायनी' काव्य प्रसादजी ने मनु या मनस्तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बनाया है। मनु जितनी बुद्धि का भार सहज रूप से वहन कर सकता है, अथवा जितनी अतिरिक्त बुद्धि वह सँभाल सकता है, उतनी ही उसे धारण करनी है। उतनी बुद्धि तो श्रद्धा में है ही। किन्तु मनु तो उतने से संतुष्ट नहीं हुआ और बुद्धि का अधिपति बनने का दम भरने लगा। स्पष्ट ही उसका माथा फिर गया था, अन्यथा वह ऐसे दुस्साहस का काम न करता। आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है ! वह मन की शक्ति या पहुँच के बाहर बुद्धि को दौड़ा कर जो भयानक आविष्कार करता जा रहा है, उसका परिणाम क्या वह अभी नहीं भोग रहा ? क्या इसी पद्धति पर चलने से आज निकट भविष्य मे ही मानवीय सभ्यता के विनाश की आशङ्का नहीं हो रही ? कहावत का कोई ऐसा ही व्यक्ति जिसे जगत्-गति व्यापत नहीं होती, इसका उत्तर नकार में दे सकता है। इसलिए प्रसादजी ने

मन या मानव-शक्ति के परे बुद्धि की संघर्द्धना को बुरा बतलाया है, जिस प्रकार शास्त्रकार मनुजी ने 'महायंत्र प्रवर्त्तन' अर्थात् बड़े-बड़े यंत्र बनाने का निषेध किया था। प्रसादजी का सन्देश बुद्धि, भावना और क्रिया का समान विकास करना होने के कारण बुद्धि की एकाङ्गी उन्नति का यहाँ भी निषेध किया गया है। यह मानना सङ्गत न होगा कि प्रसादजी बुद्धि के विरोधी थे। हाँ, वे बुद्धिवाद की 'अति' के विरोधी अवश्य थे।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी मर्म-ग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसादजी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक बौद्धिक और भावात्मक विकास मे सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि से तो यह मनुस्मृति के सहस्रों वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रयास है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तु-स्थिति से परिचय रखनेवाली जिस मर्म-भेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा; कर्म, भावना और बुद्धि; क्षर, अक्षर और उत्तम तत्वों को सुसंलग्न कर दिया है! यही नहीं, उन्होंने इन तीनों का भेद मिटा कर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं, यही नहीं शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही है। एक की साधना से सबकी साधना बन जाती है। महाराज मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की कठोर परीक्षा करके मनुस्मृति की रचना की थी। उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमों की नियोजना की थी। इस आश्रमसस्था के मूल में जो सुदृढ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसादजी ने उसका काव्यमय रूप पुनः उपस्थित किया है। उसकी ओर लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य में मनु, मानव या मनस्तत्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा साख्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण से, वैदिक तथा पौराणिक कथाओं की अनुश्रुति पर, मनुस्मृति का सामयिक

अनुशीलन, अनुसरण और संशोधन करते हुए, आधुनिक रुचि के अनुकूल, नारी की महिमा का विशेष रूप से प्रकाश करने के लिए, उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसीलिए मै इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदासजी की इन स्मरणीय पंक्तियों से करता हूँ :—

अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।।

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखों से देखने पर प्रकट होता है कि उसमें मन की नैसर्गिक इच्छाओं और भावनाओं के विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसके उदात्त स्वरूप का उद्‌घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम समरसता में सजाकर उसे विशृंखल बनने से बचाया गया है। आप कह सकते हैं कि यह समरसता भी अपनी सीमा-रेखाएँ बना कर रूढ़ि का रूप धारण कर सकती है। संभव है ऐसा हो, किन्तु इस भय से कोई कवि अपने काव्य में आवश्यक संतुलन (Equilibrium) की नियोजना बिना किए कैसे रह सकता है ! फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रूढ़ि के स्थान पर नई रूढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि संभव है ऐसा भी हो; किन्तु हम यह भूल नहीं सकते कि नई रूढ़ि में हमें नए जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रूढ़ि में ताजे जीवन-स्रोतों का अभाव ही नहीं होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओं में दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अंतर भी कम ध्यान देने योग्य नहीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकाङ्गी और अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर, व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि का संदेश सुनाती और नियोजना करती है।

(१९३७ सितम्बर)

कामायनी-विवेचन

कामायनी काव्य आधुनिक युग की कृति है। इसके निर्माता 'प्रसादजी यद्यपि भारतीय अतीत और उसकी प्राचीन संस्कृति के प्रेमी थे, परन्तु कामायनी में उन्होंने नवीन वैज्ञानिक तथ्य का भी यथेष्ट उपयोग किया है। उनकी यही विशेषता उनके काव्य को आधुनिकता प्रदान करती है। प्रसाद जी ने कामायनी के नायक और नायिका मनु और कामायनी का स्वरूप वैज्ञानिक भूमि पर स्थिर किया है। पुरुष और नारी की विज्ञान-संमत प्रकृति और प्रवृत्ति का चित्रण मनु और कामायनी के रूप में करने की चेष्टा की है। पुरुष और नारी प्रकृत्या क्या हैं, सभ्यता, इतिहास और परम्परा के आवरणों को अलग कर देने पर मूलतः वे क्या रह जाते हैं, यही कामायनी और मनु के स्वरूपों में दिखाया गया है। इस मूल भावना के प्रदर्शन का महत्त्व यह है कि कवि विज्ञान-संमत चित्रण द्वारा जीवन के स्वरूप और उसकी प्रेरणा की परीक्षा करना और उसके तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहता है। आज का मनुष्य और आज की नारी इतिहास की उपज हैं। उसमें कृत्रिम प्रवृत्तियों और संस्कारों का मेल हो गया है; इसलिये समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव प्रवृत्तियों के उद्घाटन में प्रसादजी संलग्न हुए हैं। नवीन विज्ञान का कहना है कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का परिचय और परिज्ञान तथा उक्त प्रकृति के आधार पर उसके जीवन-विधान का निरूपण मानव-प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रसादजी कामायनी काव्य में इस तथ्य को मानकर मूल मानव प्रकृति के उद्घाटन में प्रवृत्त हुए हैं।

मनोवैज्ञानिक आधार

इस काव्य में जो सर्गों के शीर्षक दिए गए हैं, वे प्रायः मानसिक वृत्तियों के आधार पर हैं। वे यह सूचित करते हैं कि प्रसादजी का लक्ष्य मानव-मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने का था। पहला सर्ग 'चिंता' का है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि के नव-निर्माण की समस्या मनु के सामने आई। वह अतीत का लेखा लगाता और भावी की चिन्ता करता है। यह चिन्ता या आत्म

चेतना मनुष्य की वह मूल वृत्ति है जो उसे शेष प्राणिजगत से भिन्न और श्रेष्ठ पद प्रदान करती है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणियों में यह शक्ति नहीं होती। प्रसादजी ने इसी प्रमुख विशेषता को लेकर 'चिन्ता' सर्ग का निर्माण किया है। चेतना या चिन्ता मनुष्य की मनुष्यता की सूचक प्रथम मौलिक वृत्ति है, इसीलिए वह कामायनी काव्य के प्रथम सर्ग में शीर्षक बनकर आई है।

आत्मचेतना या चिन्ता के पश्चात् मानव को जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ाने वाली दूसरी वृत्ति आशा है, जो कामायनी के द्वितीय सर्ग में आई है। आशा विकासोन्मुख वृत्ति है, और वह सुखात्मक है। प्रमुख रूप से आशा ही मनुष्य को कार्यक्षेत्र में अग्रसर करती है। आशा या सुख की अभिलाषा न केवल मानवजीवन का प्रमुख लक्ष्य है यह जीवन को प्रगति या प्रेरणा देनेवाला मुख्य उपादान भी है।

आशा मनुष्य को जीवन-विकास की प्रेरणा देती है, परन्तु जीवन-विकास का वास्तविक आधार श्रद्धा है। आशा जीवन मे प्रविष्ट कराती और कर्म की प्रेरणा देती है; परन्तु जीवन का मूल तत्त्व श्रद्धा है। इसी आशय की अभिव्यक्ति के लिए कामायनी में तृतीय सर्ग 'श्रद्धा' का है। कवि की दृष्टि में श्रद्धा जीवन की इतनी प्रमुख वृत्ति है कि वह काव्य में नायिका के रूप में उपस्थित की गई है। प्रसादजी ने यहाँ श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप भी अंकित किया है और उसे नारी-प्रतीक के रूप में भी उपस्थित किया है। मनोविज्ञान का विवेचन करते समय हम श्रद्धा को मानसिक वृत्ति के रूप में ही लेंगे। श्रद्धा ही मनु (मानव) को सृष्टि के उद्देश्य का बोध कराती है—

> और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान;
> शक्तिशाली हो, विजयी बनो, विश्व में गूँज रहा जय गान।

श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति का संदेश देती है, शक्ति-संचय कर जीवन में सफलता प्राप्त करने को प्रेरित करती है। जीवन के कर्मक्षेत्र की सफलता ही मानवचेतना की सफलता है। मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य इसी चेतन तत्त्व का अधिकाधिक प्रसार और विस्तार करना है। मानव की समस्त प्रगति, विकास और विस्तार श्रद्धा द्वारा ही सम्भव है। श्रद्धा के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए चतुर्थ 'काम' सर्ग की योजना की गई है।

काम श्रद्धा का पिता है। प्रसादजी ने काम को सृष्टि के विकास मे अत्यन्त उपयोगी मानकर प्रतिष्ठित किया है। काम की यह कल्पना वैदिक है। बौद्धों के दार्शनिक विवेचन में भी काम या सौमनस्य की विशेषता दिखाई गई है। मन की स्वस्थ और विकासशील अवस्था का साधन 'काम' ही है। 'कामना' नाटक में भी प्रसादजी ने इसका उल्लेख किया है। कामना ही उस नाटक की नायिका है। उसमें तथा 'कामायनी' की नायिका 'श्रद्धा में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्वरूप का साम्य है। स्पष्ट है कि प्रसादजी के मन में कामना का स्वरूप इस काव्य-रचना के पूर्व ही वर्तमान था। कामायनी में काम अपनी पुत्री श्रद्धा (कामायनी या कामना) को मनु को समर्पित कर सदेश देता है कि तुम मेरी इस पुत्री के सहयोग से ही जीवन के समस्त लाभ प्रात कर सकते हो। यहीं वह अपनी प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का निर्देश करता है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म-रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है,

इसके आगे 'वासना' सर्ग से लेकर निर्वेद तक ५-६ सर्गों में मनु निरन्तर जीवन के वास्तविक उद्देश्य को खोकर विपथ में जाते दिखाई देते हैं। श्रद्धा सर्ग में मनु को श्रद्धा प्राप्त हुई, पर मनु वास्तव में श्रद्धा का यथार्थ स्वरूप पहचानने और उसका उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे। श्रद्धा के स्वरूप के अपरिचय से ही मनु को वासना के कर्दम में फँसना पड़ा। इस ओर मनु में वासना जगती है, स्वार्थ या भोग-वृत्ति पैदा होती है, उस ओर नारी (श्रद्धा) मे लज्जा का उदय होता है! लज्जा ही नारी को सयम, त्याग और समर्पण की शिक्षा देती है! नारी अपना भविष्य समझने में असमर्थ है। वह सकल्प-विकल्प में पड़ी है! वह अपने अस्तित्व के वास्तविक उद्देश्य को समझना चाहती है, पर वह असमर्थ है। उसी समय लज्जा कहती है :—

'क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प-अश्रुजल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही, जीवन के सोने से सपने
नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग-तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में

× × × ×

आँसू के भीगे अंचल पर, मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से, यह संधिपत्र लिखना होगा।'

श्रद्धा नारी-रूप में देव और असुर भावों के चिरन्तन संघर्ष को शांत करनेवाली सत्ता है। यह संघर्ष न केवल बाह्य जगत में होता है, यह अंतर्जगत में भी होता रहता है! इस चिरन्तन सांस्कृतिक द्वंद्व की शांति श्रद्धा-नारी द्वारा ही हो सकती है! यह प्रसादजी की नारी के सम्बन्ध की दार्शनिक धारणा है।

वासना के उपरान्त मनु में कर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है! यहाँ कर्म से प्रसादजी का अभिप्राय याज्ञिक या हिंसात्मक कर्म से है। वासना के उदय के पश्चात् मानव की अतृप्ति उसे अबाध कर्म की ओर प्रेरित करती है। व्यक्ति सब छोड़ कर उसी में लग जाता है। कर्म के अबाध प्रवाह में डालने वाली प्रवृत्ति वासनाजन्य अतृप्ति ही है। किलात और आकुलि नामक असुर पुरोहित मनु को हिंसात्मक याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतृप्ति ही हिंसात्मक कार्यों में परिणत होती है। कर्म का ही अति-वादी रूप है सत्ता को अधिकृत करने की चेष्टा, आत्म-विस्तार वा अपने को अधिकारी बनाने का उद्योग। ज्यों-ज्यों मनु में हिंसात्मक कार्यों की प्रवृत्ति बढ़ती है, वह अनेक मानसिक दुर्वृत्तियों से आक्रांत होते हैं। उनकी अंतिम दुर्वृत्ति ईर्ष्या है। ईर्ष्या असहनशीलता का परिणाम है। ईर्ष्या में दूसरे की सुख सुविधा के प्रति अनुदार संकीर्णता और विरोध का भाव रहता है। मनुष्य अहं-केन्द्रीय हो जाता है। यह कर्म का संकीर्णतम स्वरूप है।

ईर्ष्या की उत्तेजना में मनु घर-बार, पत्नी सब कुछ छोड़कर अज्ञात दिशा मे निकल पड़ते हैं। यहाँ से मनु बुद्धिवादी बनकर सारस्वत प्रदेश में पहुँचते और इड़ा से मिलते हैं। हिंसाप्रिय और ईर्ष्यालु मनुष्य बुद्धिवादी बन ही जाता है आज का वैज्ञानिक भी अपने को बुद्धिवादी कहता है। सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण का जो चित्रण प्रसाद ने किया है (कामायनी दशम सर्ग), वह आज के विज्ञानवादी संसार से मिलता जुलता है। प्रसाद की दृष्टि में यह बुद्धिवाद, विज्ञानवाद या भौतिकतावाद मनुष्य के स्वस्थ और स्वाभाविक विकास में बाधक है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मनु की दुर्वृत्तियों की अंतिम परिणति बुद्धि-वाद ही है। यह मनु को दुःखांत परिणाम के लिए तैयार कर देता है। केवल एक घटना निमित्त बनकर आती है; वह है इड़ा (बुद्धि या प्रकृति) के प्रति व्यभिचार-भावना। आरम्भ में मनु बुद्धि (इड़ा) को सम्राज्ञी मान-कर आत्मविकास में प्रवृत्त हुए हैं। पर अंत में वे बुद्धि को अपनी अंकशायिनी बनाना चाहते हैं। इड़ा के राज्य में मनु मंत्री थे, पर अब सम्राट् बनकर वे बुद्धि को अपनी वशवर्तिनी बना रहे हैं। बुद्धिवाद अंत में इसी व्यभिचार में परिणत होता है। इसी व्यभिचार के विरुद्ध प्रकृति विद्रोह करती है और सृष्टि में पुनः संतुलन स्थापित होता है।

'कामायनी' में यहीं से मनु का प्रत्यावर्त्तन होता है। वे बुद्धि की इस विभीषिका से ऊबकर नए सिरे से श्रद्धा के पथ पर चलने का उपक्रम करते हैं। 'निर्वेद' सर्ग में उन्हें अपने कार्यों पर ग्लानि होती है। फिर उन्हें वास्तविक तत्व का 'दर्शन' होता है। यह दर्शन ही स्थायी अनुभूति बनकर रहस्य रूप में परिणत होता है। यहाँ रहस्य से अभिप्राय तत्व को जीवन में आत्मसात् कर लेने से है। यह अपरोक्षानुभूति या प्रत्यक्ष तत्वज्ञान ही आनंद का स्रष्टा है। मनु को संपूर्ण जीवन की सार्थकता की और अखंड आनंद की अनुभूति होती है। जीवन का चरम परिणाम और उच्चतम लक्ष्य यही है। भारतीय दर्शनों में जो आनंदवाद है, उसी का नया उद्घाटन प्रसाद ने 'कामायनी' के अंतिम 'आनंद' सर्ग में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, 'कामायनी' मनु और श्रद्धा की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य में की गई है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखनेवाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा, कर्म, भावना और बुद्धि, क्षर, अक्षर और उत्तम तत्वों को सुसंगठित कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने इन तीनों के भेद को मिटाकर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वह

आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं। यही नहीं, शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही हैं। एक की साधना सबकी साधना बन जाती है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मानोविज्ञान यहाँ एक साथ दिखाई देते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यात्मक निरूपण हिन्दी मे शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।

'कामायनी' में चित्रित मनोविज्ञान सुगठित एवप्रौढ है। कामायनी के सर्गों का नामकरण स्थान, घटना या पात्र के आधार पर करने की जगह मानसिक वृत्तियों के आधार पर कर प्रसादजी ने मानवजीवन की प्रवृत्तियों का क्रम दिखाने की सफल चेष्टा की है।

कामायनी का दार्शनिक निरूपण (समरसता सिद्धात)

मानवजीवन आज अनेकानेक जटिलताओं और वैषम्यों से ग्रस्त है। उन जटिलताओं का दिग्दर्शन कराना और उनके निवारण का उपाय बताना आज के क्रान्तदर्शी कवि का ही कार्य है। प्रसादजी ने अपने 'कामायनी काव्य में इस क्रातदर्शिता का परिचय दिया है। जीवन के विरोधों का उल्लेख करने में प्रसादजी ने सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है उन विरोधों का परिहार भी वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसके निमित्त उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन का उपयोग किया है और विशेषकर उसके समन्वय-प्रधान स्वरूप का आधार लिया है। कामायनी काव्य में यह समन्वयात्मक दर्शन 'समरसता' के नाम से अभिहित है। समरसता का उल्लेख काव्य में कितने ही स्थानो पर किया गया है। जीवन का एक मुख्य वैषम्य सुख-दुख-संबधी है। प्रसादजी ने सुख और दुःख की द्विविधा का निराकरण इन मार्मिक शब्दों में किया है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल

... ...

नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान
व्यथा की नीली लहरो बीच, बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान

(कामायनी, पृष्ठ ५३-५४)

मानव सबंधों मे आकाक्षा और तृप्ति का वैषम्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। आकाक्षाओ का अन्त नहीं है और तृप्ति अतिशय दुष्प्राप्य है। इस

वैषम्य के निवारण के लिए भारतीय संन्यासियों ने इच्छा या आकांक्षा को पाप कहकर उसके दमन का आदेश किया है, परन्तु प्रसादजी ने आकांक्षा और तृप्ति के व्यावहारिक स्वरूप को स्वीकार कर उसके समन्वय की योजना की है :—

हम भूख प्यास से जाग उठे, आकांक्षा तृप्ति-समन्वय में
रति काम बने उस रचना में, जो रही नित्य यौवनवय में

... ...

मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको
आनन्द समन्वय होता था, हम ले चलते पथ पर उनको

इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी कामना और इच्छा के अबाध और अनियन्त्रित रूप को स्वीकार न करते हुए भी उनकी नितात वर्जना नहीं करते। सीमा में, संयम के साथ उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। आनन्द के विकास के लिए तृष्णा और तृप्ति की समन्वित सत्ता के वे समर्थक हैं।

अधूरी आत्मसत्ता के उपासक देवतागण और देह तथा प्राणशक्ति के उपासक असुरों के विरोधी जीवन प्रवाह में भी वे समरसता की सभावना देखते हैं। इस ऐतिहासिक द्वद्व की शाति के लिए वे 'श्रद्धा' का उपयोग करते हैं और यह सुझाते हैं कि इस सास्कृतिक द्वंद्व का अपवारण 'श्रद्धा' नारी ही कर सकती है :—

देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सधि-पत्र लिखना होगा।

(कामायनी, पृष्ठ १०६)

अधिकारी और अधिकृत, शासक और शासित के बीच भी सदा से एक दुर्भेद्य खाई रही है जिससे संसार में महान उत्पीड़न होते आए हैं। इन दोनों में अनियन्त्रित सम्बन्ध रहने के कारण ही इतिहास के पृष्ठ रक्त-रंजित हुए हैं। यद्यपि प्रसादजी ने इस द्वैत के निर्मूलन के लिए अधिकारी या सत्ताधारी को ही समात कर देने का सदेश नहीं दिया है (एक दार्शनिक के नाते प्रसादजी इस द्वैत का नितांत अभाव मानने में असमर्थ

थे), परन्तु इस ऐतिहासिक द्वंद्व का भी 'समरसता' द्वारा शांत करने का मार्ग-निर्देश किया है—

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है संबंध बनी, अधिकार और अधिकारी की।

मनु द्वारा इड़ा के सहयोग से सारस्वत प्रदेश में अनेक मानव-वर्गों का उद्भव और परस्पर संघर्ष होता है जो बुद्धिवाद की एकांगिता का परिचायक है। आधुनिक सभ्यता इसी बुद्धिवादी आधार पर प्रतिष्ठित है। प्रसादजी इस खतरे को पूरी तरह समझते थे। श्रद्धा-विरहित समाज-योजना के दुष्परिणामों से वे अवगत थे। मनु का अपनी प्रजा से संघर्ष और सारस्वत प्रदेश का विद्रोह इसी एकांगी बुद्धिवाद का निर्देशक है। इस रोग का उपचार भी प्रसादजी ने बताया है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन मां की पुकार

(कामायनी, पृष्ठ २२४)

प्रसादजी कर्म-मार्ग के विरोधी नहीं थे। वे मननशील अभय कर्म का संदेश देते हैं। परन्तु वह कर्म जो भेद-बुद्धि के आधार पर ठहरा है और श्रद्धारहित है, परिणाम में विनाशकारी है। इस प्रकार बुद्धि, श्रद्धा और कर्म का समन्वय कामायनी में प्रदर्शित किया गया है। अंततः जीवन के सबसे बड़े और दुर्भेद्य विरोध कर्म, इच्छा और ज्ञान के समन्वय का संकेत भी प्रसादजी ने किया है। सत्व तम और रज के त्रिगुणात्मक प्रवाह में कहीं किसी ओर से एकात्मता दृष्टिगोचर नहीं होती। अत्यंत ऊँची भूमि से ये तीन गोलक अलग-अलग दिखाई देते हैं। इनका विच्छेद चिरंतन और शाश्वत है। इच्छा या भावना रजोगुणी वृत्ति है, ज्ञान सात्विक व्यापार है, कर्म तामस का परिणाम है। सृष्टि के ये तीन प्रबलतम तथ्य परस्पर विच्छिन्न होकर एक दूसरे से टूटकर अनन्त वैषम्य की सृष्टि करते हैं। इनकी पृथक्ता का अपवारण होने पर ही शाश्वत और नित्य आनंद का अभिषेक हो सकता है। प्रसादजी ने श्रद्धा की मुसकान द्वारा इस महावैषम्य को तिरोहित कर अखंड मंगल और आनंद का विमोहक नृत्य दिखाते हुए काव्य की परिसमाप्ति की है—

संगीत मनोहर उठता, मुरली बजती जीवन की
संकेत कामना बनकर, बतलाती दिशा मिलन की।
प्रतिफलित हुईं सब आँखें उस प्रेम-ज्योति विमला से
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से।
समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।

इस प्रकार जीवन के वास्तविक विरोधों को श्रद्धा की मूलवर्तिनी सत्ता द्वारा अपहृत कर जीवन में समरसता और समन्वय स्थापित करने की अपूर्व आशाप्रद कल्पना प्रसादजी ने कामायनी काव्य में की है। यह कल्पना एक ओर जीवन के सूक्ष्मदर्शी विज्ञान का आधार रखती है और दूसरी ओर उच्चतम भारतीय दार्शनिकता का सम्बन्ध लेकर चलती है। मानव प्रकृति और जीवनगत द्वंद्वों का निरूपण विज्ञान पर आश्रित है, और श्रद्धा की कल्याणमयी सत्ता दर्शन की देन है। इन दोनों के सम्मिलन और संयोग-स्थल पर कामायनी का समरसता सिद्धात प्रतिष्ठित है। इसे नवीन विज्ञान और चिरनवीन भारतीय दर्शन की संगमभूमि भी कहा जा सकता है।

अन्य दार्शनिक निर्देश

कामायनी काव्य के आरम्भ में देवताओं के जीवनदर्शन की तुलना में मानवजीवन-दर्शन का निरूपण किया गया है। देवताओं की अमरता प्रसाद जी की दृष्टि में सापेक्ष और स्वल्पस्थायी अमरता थी। देवसृष्टि का भी विध्वंस प्रसादजी ने प्रदर्शित किया है। ध्वंस का कारण यह था कि देव-संस्कृति का निर्माण एकागी आधार पर हुआ था। केवल सुख की आकाक्षा को लेकर उसका विकास हुआ था। प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहती थी। ये ही दो कारण प्रसादजी के मत मे देवसृष्टि के विनाश के थे :—

१—जीवन के केवल सुख-पक्ष की प्रवर्धना का प्रयत्न।

२—प्रकृति पर नियन्त्रण और उसके समस्त सार को स्वार्थ के लिए प्रयोग करने की लालसा। ये दोनों प्रवृत्तियाँ देवताओं को कहाँ तक ले गईं, यह कामायनी के प्रथम सर्ग में (११, १२, १३, १४ पृष्ठों पर) वर्णित है। प्रकृति ने इस अनाचार का बदला लिया। प्रसादजी प्रकृति को एक सचेतन शक्ति मानते हैं। प्रकृति की वह अनिर्वचनीय शक्ति जो मनुष्य के

बढ़ते हुए अहंकार का शमन करती है, प्रसादजी की दृष्टि में नियति है। इसकी कुछ चर्चा आगे की जायगी।

प्रसादजी का विधायक मानवदर्शन दिखाई पड़ता है देवताओं और दानवों के द्वंद्व के प्रदर्शन में। दो संस्कृतियों में द्वंद्व दिखाकर दोनों की एकांगिता का चित्रण (इड़ा सर्ग में) किया गया है—

जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार।

आत्मा की एकांगी उपासना देवों की विशेषता थी। वे अहं के उपासक थे। असुरवर्ग शरीर और प्राणों की पूजा करता था। मानसिक और शारीरिक उत्कर्ष को सब कुछ मानता था। विश्वास और श्रद्धा की दोनों में कमी थी। श्रद्धा का अभाव ही दोनों के निरन्तर संघर्ष का कारण बन गया था। श्रद्धा ही संतुलित मानवदर्शन की मूल आधार है, जो इन उभय-विध प्रवृत्तियों में एकात्मता स्थापित कर संघर्ष का परिहार करती है। श्रद्धा ही जीवन में अखंड आनन्द की प्रतिष्ठा करने में समर्थ है।

प्रसाद का आनन्दवाद सर्ववाद के सिद्धांत पर स्थित है, जो वैदिक अद्वैत सिद्धांत भी कहा जा सकता है। यह सर्ववाद शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धांत से, जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकार की गई है, भिन्न है। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात करता है, जब कि शंकर का मायावाद केवल निवृति पर आश्रित है। भारतीय दर्शन की वह धारा जो वेदों में समस्त दृश्यजगत को ब्रह्म से अभिन्न मानकर चली है, क्रमशः शैवागम ग्रंथों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसादजी ने शैवागम से ही इस सर्ववाद-मूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया। 'काम' सर्ग में काम के द्वारा जो मनु को स्वप्न में शिक्षा दी जाती है, वह इसी दार्शनिकता का संकेत करती है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म रंगस्थल है
है परंपरा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है।

सर्ववाद का लक्ष्य निवृत्ति द्वारा उतना सिद्ध नहीं होता जितना विश्व को कर्मस्थल मानने से सिद्ध होता है। यह कोरा कर्म नहीं, समन्वयात्मक कर्म है।

पौराणिक धारणा के अनुसार काम का तत्व त्याज्य और वर्जित माना जाता है, पर प्रसादजी ने काम के स्वरूप को नितांत भिन्न रूप में

माना है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कामदेव शंकर के द्वारा भस्म किए गए थे। गीता में भी—

'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः'

कहकर उसकी भर्त्सना की गई है। पर प्रसादजी जिस सर्ववाद को लेकर चले हैं, उसमें काम का तत्व जीवन को प्रगति देनेवाला माना गया है। 'काम' की पुत्री कामायनी ही श्रद्धा है। स्पष्ट है कि पौराणिक दृष्टि से उनकी दृष्टि भिन्न है। पुराणों मे निवृत्तिमूलक दार्शनिकता जोर पकड़ रही थी, प्रसादजी उसके हामी नहीं थे।

नियतिवाद —

प्रथम सर्ग में ही प्रलय में सारी सृष्टि का ध्वंस नियति की प्रेरणा से हुआ दिखाया गया है। नियति को प्रसादजी सचेतन प्रकृति का कार्यकलाप मानते हैं। सचेतन प्रकृति नियति के रूप में ही सक्रिय होती है। इस प्रकृति से मनुष्य और मानव को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह एक वृहत्तर शक्ति है। मानव जब एकागी आत्मविस्तार में लगता है, तब प्रकृति रोषाविष्ट हो उठती है और नियति के रूप में मानव की उक्त प्रवृत्ति का शमन करती है। प्रसादजी की दृष्टि में नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करनेवाली शक्ति है जो मानव अनिवार्दों की रोक-थाम करती है और विश्व का सतुलन विकास करने में सहायक होती है।

प्रसाद का यह नियति-सिद्धात साधारण भाग्यवाद या प्रारब्धवाद से भिन्न है। नियति एक अज्ञेय शक्ति है, किंतु वह जड़ और अज्ञानमूलक नहीं है। उसका प्रवाह मानवता और सृष्टि के कल्याण के लिए है। मनुष्य को उससे विद्वेष न कर उस पर विश्वास रखते हुए अपना जीवनक्रम निर्धारित करना चाहिए। वह जीवन के प्रति आस्था और अविरोध उत्पन्न करती तथा मानव के अतिचारों को रोककर विश्व को अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। इसे भाग्यवाद नही कहा जा सकता।

प्रारब्धवाद या पूर्वजन्मों के कर्मफल सिद्धात से भी यह भिन्न है। यह मनुष्य को सामाजिक कर्तव्य की पूरी छूट देती है, और कहीं भी लौकिक न्याय की प्राप्ति में बाधक नहीं बनती। किसी भी सीमा-रेखा पर जाकर पूर्व-जन्म और उसके कर्मों की दुहाई देना और मनुष्य को सामाजिक न्याय के

मार्ग में पूरी दूरी तक जाने देने से रोकना 'प्रसाद' की नियति का कार्य नहीं है। उनकी नियति-कल्पना बहुत कुछ वैयक्तिक है, वह किसी क्रमागत सिद्धात की प्रतिरूपमात्र नहीं है।

रहस्यवाद :—

यों तो उनका समस्त काव्य ही छायावादी या रहस्यवादी आधार लिए हुए है, वास्तविक और व्यक्त जीवन-घटना के स्थान पर भावनाओं और मनोवृत्तियों का छायात्मक निरूपण ही उनके काव्य की मुख्य विशेषता है, परन्तु कतिपय स्थल स्पष्टतः रहस्य की आभा से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए कामायनी का रूप-वर्णन और 'देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम' अथवा सौन्दर्य-तत्व का यह प्रसिद्ध निरूपण 'ओ नील आवरण जगती के, दुर्बोध न तू ही है इतना, अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना।' इसी प्रकार 'दर्शन', 'रहस्य' और आनन्द' सर्ग भी स्पष्टतः प्रसादजी के रहस्यवादी जीवन-दर्शन के निरूपक हैं।

वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण.—

'कामायनी' का कथानक या वस्तु-विन्यास सरल किन्तु मार्मिक है। मनु की 'चिन्ता' का प्रथम सर्ग जलप्रलय की घटना का उल्लेख कर काव्य के महत् आशय की सूचना देता है। इसे काव्य-प्रासाद की नींव कह सकते हैं जो पर्याप्त गहरी और मजबूत है 'आशा' का द्वितीय सर्ग पृष्ठभूमि का काम करता है। हिमालय की उपत्यका में नवीन अरुणोदय दिखाकर कवि अपने काव्य के मर्म अथवा उसकी मूल कल्पना का आभास देता है। व्यापार या घटना-क्रम का आरम्भ तृतीय सर्ग से होता है, जब परम रमणीय श्रद्धा को देखकर मनु नवीन उल्लास के साथ जीवन-प्रागण में प्रवेश करते हैं। घटनावली इस सुखात्मक दृश्य से आरंभ होकर सौन्दर्य और उल्लास के नवीन जीवन-अध्यायों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। काम, वासना और लज्जा के सर्ग सुख और शृंगार से सज्जित हैं। नायिका के मन में प्रथम आशंका का उदय लज्जा सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में होता है :—

नारी जीवन का चित्र यही क्या
　　विकल रंग भर देती हो ?
अस्फुट रेखा की सीमा में
　　आकार कला को देती हो।

मैं जभी तौलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से
झूले सी झोंके खाती हूँ ।

यहीं से कथानक में खिंचाव आरंभ होता है । अशान्त जीवन-तरंगें उठने लगती हैं । कर्म, ईर्ष्या और इड़ा सर्गों में क्रमशः बढ़ता हुआ उद्वेलन अपनी सीमा पर पहुँच जाता है । इड़ा सर्ग में आकर कथानक एक अद्‌भुत् वैषम्य की परिस्थिति उत्पन्न कर देता है । थोड़ी देर के लिए इड़ा का उज्वल प्रकाश सूर्यास्त के पूर्व की मनोरम आभा से परिपूर्ण-सा दिखाई देता है । परन्तु थोड़ी ही देर में अंधेरा आ जाता है । इड़ा सर्ग चरमसीमा का सधि का द्योतक है । इसके पश्चात् काव्य निगति (Denouement) की ओर उतरने लगता है । स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद के सर्ग इसी उतार के परिचायक हैं । यहीं हम अंतिम घटना की प्रतीक्षा में आतुर रहते हैं । निश्चय ही किसी दुःखान्त जीवन-दृश्य की संभावना प्रबल हो उठती है और वास्तव में वह घटित भी होती है । परंतु सहसा रगमंच पर 'कामायनी' अपने पुत्रशिशु सहित उपस्थित हो जाती है, और नायक मनु की मुमूर्षु और मरणासन्न धमनियों में नई और आशाप्रद उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है । कामायनी काव्य यद्यपि दु.खान्त सृष्टि के अनुकूल वस्तुविन्यास धारण किए है (और इस दृष्टि से 'कामायनी' की वस्तु में पश्चिमी दुःखान्त रचनाओं की अनुरूपता पाई जाती है), परन्तु कवि की भारतीयता यहाँ अपना अनोखा चमत्कार दिखाती है । स्वर्गस्था शकुन्तला और उसके पुत्र भरत की भाँति कामायनी और उसका पुत्र मानव नए और अप्रत्याशित जीवन दृश्य की झाँकी दिखाते हैं । दुष्यंत की भाँति मनु को भी स्वर्गीय शान्ति और समाधान प्राप्त होता है ।

इस प्रकार कामायनी का वस्तुनिर्माण पश्चिमी ट्रेजेडी और पूर्वी आनन्द-कल्पना के योग से समन्वित होने के कारण समीक्षकों के सामने थोड़ी-सी कठनाई भी उपस्थित करता है । एक ही काव्य में सुखान्त और दु.खान्त कृति के अनुरूप वस्तुविन्यास हो कैसे सकता है ? या तो वह सुखान्त कृति के ही अनुरूप होगा या दु.खान्त कृति के ही । अन्यथा कथानक में एकात्मता न आएगी । जैसा ऊपर निर्देश किया गया है, कामायनी का

कथानक दुःखान्त कृति के उपादनों से बना है। समस्त संधियों का विनियोग दुःखान्त रचना के ही अनुकूल हुआ है। ऐसी अवस्था में घटना-चक्र को सहसा दूसरी दिशा में मोड़कर बिल्कुल भिन्न परिणाम पर पहुँचाने के औचित्य पर शका और विरोध के लिए पूरा स्थान है। परन्तु यहाँ फिर 'शाकुन्तल' का आदर्श हमारी रक्षा के लिए उपस्थित होता है। 'शाकुन्तल' की ही भाति 'कामायनी' भी किशोरवय की अनुरंजनकारिणी उपाकिरणों से आरंभ होकर प्रौढ़तर यौवन के दिवातप की उल्लासपूर्ण अनुभूति का सर्वांग दर्शन कराती है और शाकुन्तल की ही भाँति विच्छेदमूलक नियति की क्रूर संधि से सयुक्त होकर समस्त दृश्य को एक अद्भुत रौद्र से परिप्लावित कर देती है और अत में शाकुन्तल की ही भाँति कामायनी का कथानक भी आतपतापित दर्शकों को स्वर्गीय विराम की अभिनव माया में लपेट लेता है और काव्य-संधियों की चिन्ता न कर एक सध्योत्तर सुखद चाँदनी की स्वर्गीय आभा मे लीन कर देता है। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कामायनी को दुःखान्त रचना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। उपसहार के आनन्दात्मक दृश्यों को हम सधियों से परे काव्य की दार्शनिक और आलकारिक (Ornamental) पूर्ति मान कर भी सतोष कर सकते हैं।

कामायनी की चरित्र-सृष्टि के संबंध मे यह आरंभ में ही जान लेना चाहिए कि कामायनी चरित्र-प्रधान रचना नहीं है। एक तो उसमे पात्रो की सख्या ही बहुत कम है, जो चरित्र हैं भी उनमे स्वभावगत विशेपताओं का अधिक निरूपण नहीं हुआ है। वास्तव में कामायनी के चरित्र जीवन की दार्शनिक इकाइयों के प्रतिनिधि हैं। उनमें गतिशीलता और बाह्य स्थितियों से प्रभावति होने की विशेषता नहीं देखी जाती। वास्तव मे वे प्रतीक चरित्र हैं, परतु काव्य में वे निर्जीव चरित्र के रूप में नहीं आए हैं। उनमें पर्याप्त व्यक्तित्व है। यह भी स्पष्ट है कि कामायनी के चरित्रों के निर्माण में किसी रूढ़ि या परंपरागत व्यवस्था का हाथ नहीं है। मनु महाकाव्य के क्रमागत नायक की भाँति वीर चरित्र नहीं है। उसे हम वर्तमान संघर्षात्मक युग का प्रतिनिधि कह सकते हैं जो जीवन के वैषम्यों से खिंचकर अनेक दिशाओं में दौड़ता है, किन्तु कहीं भी शान्ति नहीं पाता। मनु के जीवन में संकल्प-विकल्प की प्रधानता है, सुख और दुःख का समिश्रण है। वह जीवन के

किसी निर्णीत आधार को लेकर नहीं चला। अंत में प्रसादजी उसे श्रद्धा के अंचल में शान्ति देते हैं।

'कामायनी' या श्रद्धा का चरित्र अपनी आदर्शात्मक विशेषता के कारण काव्य का सर्व-प्रमुख चरित्र है। कामायनी नायिका-प्रधान काव्य कहा जा सकता है। किन्तु कामायनी के जीवनादर्श में कहीं भी रूढ़ि या कृत्रिम गौरव का आभास नहीं है। वह आरंभ में एक चंचल बालिका के रूप में उपस्थित होती है :—

> भरा था मन में नव उत्साह
> सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
> इधर रह गंधर्वों के देश,
> पिता की हूँ प्यारी संतान।
> घूमने का मेरा अभ्यास
> बढ़ा था मुक्त व्योमतल नित्य
> कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
> हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।

इस चरित्र में किसी प्रकार की अनाकांक्षित गरिमा नहीं है। परन्तु जीवन के कठोर अनुभव उसे सहनशील और गम्भीर बना देते हैं। नारी की स्वाभाविक और मूलवर्ती चेतनाएँ उसमें प्रचुरमात्रा में हैं। तभी वह मनु के अनिर्दिष्ट जीवन को दिशाज्ञान देने में समर्थ होती है—

> समर्पण लो सेवा का सार
> सजल संसृति का यह पतवार
> आज से यह जीवन उत्सर्ग
> इसी पदतल में विगत विकार;
> दया माया ममता लो आज
> मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
> हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
> तुम्हारे लिए खुला है पास।

'कामायनी' का रहस्यमय सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व को अमित आभा प्रदान करता है, परन्तु उसमें सौन्दर्याभिमान की वृत्ति का नितान्त अभाव है। अपनी सरलता में ही वह अनोखा आकर्षण रखती है, मनु की उद्दाम वासना

को संयमित करने का पूरा प्रयत्न करती है। परन्तु इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिलती। कामायनी के नारी-सुलभ गुणों में आत्म-विश्वास, पति के व्यक्तित्व को उचित दिशा में प्रभावित और परिचालित करते हुए भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को उसमें लीन कर देने की आकांक्षा, निष्ठा, धैर्य और वात्सल्य आदि गुणों का विशेष रूप से प्रकाशन हुआ है। काव्य के अन्तिम चरण में वह आदर्श भारतीय रमणी ही नहीं, विश्वकल्याणमयी नारी का स्वरूप ग्रहण करती है, जिसके कारण काव्य के इस भाग में कामायनी के चरित्र में एक अलौकिक आभा और रहस्यात्मक गरिमा का संचार हो गया है।

इड़ा की चारित्रिक विशेषताओं का विकास काव्य में अधिक नहीं दिखाया गया। एक प्रतीक पात्र की भूमिका में रहने के कारण उसके मानवीय गुणों और व्यक्तित्व का उन्मेष पूरी तरह नहीं हो सका है। फिर भी उसके चरित्र के कुछ पहलू प्रकाश में आए हैं। आरम्भ में वह विपन्न और व्यथित मनु को सान्त्वना देती और नवीन जीवन-उपक्रम मे उसका हाथ बटाती है। जब मनु अपनी अतिवादी प्रवृत्तियों के कारण इड़ा के प्रति अपनी उच्छृखलता का परिचय देते हैं, तब वह सम्पूर्ण शक्ति के उनका विरोध करती है; परन्तु मनु के इसी अपराध के कारण जब प्रजा उन्हें आहत और घायल कर देती है, तब मनु की सेवा-सुश्रूषा का भी कार्य इड़ा ही करती है। कामायनी के मनु के समीप उपस्थित होने के अवसर पर इड़ा की सहानुभूति और संवेदना दर्शनीय हुई है -

पहुँची पास और फिर पूछा
तुमको बिसराया किसने,
इस रजनी में कहाँ भटकती
जाओगी तुम बोलो तो !
बैठो आज अधिक चंचल हूँ
व्यथा गाठ निज खोलो तो।

इड़ा यह समझती है कि इसने श्रद्धा (कामायनी) के प्रति अन्याय किया है (यद्यपि वास्तव में उसका कोई प्रत्यक्ष हाथ उस अन्याय में नहीं था) और उसे जीवन भर इसकी ग्लानि रहती है। श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव को उसे समर्पित कर उसके ग्लानि-परिहार का अपनी ओर से पूरा उद्योग किया था,

किन्तु 'कामायनी' के अंतिम सर्ग में इड़ा की वही वैराग्य मूर्ति सामने आती है जिसे देखकर प्रत्येक पाठक यही कहेगा कि इड़ा में भी प्रसादजी नारी-सुलभ गुणों का पूरा संनिवेश कर सके हैं। इड़ा की वह अंतिम झाँकी कवि ने इन पंक्तियों में दी है :-

चल रही इड़ा भी वृप के
　　दूसरे पार्श्व में नीरव।
गैरिक-वसना संध्या-सी
　　जिसके चुप थे सब कलरव।

चौथा और शेष चरित्र श्रद्धा और मनु का पुत्र मानव है जिसकी चंचल और भावुक वृत्ति का परिचय कवि ने कुछ ही सीधी रेखाओं में दे दिया है। इस पात्र की चरित्र-चर्चा की पंक्तियाँ मुझे सदैव प्रसादजी के पुत्र रत्नशंकर का स्मरण करा देती हैं जिसके चचल, किन्तु शालीन स्वभाव के प्रति प्रसादजी के भावुक वात्सल्य का मुझे व्यक्तिगत परिचय है।

'मा' फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी।
मा उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।

कामायनी का काव्यत्व—कबीर के पद आत्मा और परमात्मा के संबन्ध विज्ञापन करने के लिए नारी और पुरुष के प्रतीकों की योजना करते हैं। उनमें स्वाभाविक रसात्मकता नहीं, कवि को वहाँ एक दार्शनिक तथ्य का निरूपण करना है; उसमें काव्य की वह स्वभाविकता नहीं आ सकती जो भाव-सृष्टि के लिए आवश्यक है। काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना है। तथ्य-निरूपण तो बौद्धिक प्रक्रिया है। वह काव्य से दूर का संबन्ध रखती है। जायसी के काव्य में रूपक और प्रकृत काव्य दोनों पक्ष मिले हुए हैं। जायसी में रूपक और वास्तविक भावयोजना समान वैशिष्ट्य रखते हैं। शुक्लजी ने इसे समासोक्ति पद्धति कहा है। कबीर की पद्धति अन्योक्ति की है। यहाँ प्राकृत भाव-भूमि पर काव्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। जायसी में चरित्र और कथानक का स्वतत्र अस्तित्व है, साथ ही अप्रस्तुत का भी निर्देश है। अप्रस्तुत रूप मे पद्मावती को बुद्धि और रतनसेन को जीव माना गया है। ऐसे काव्यों में चरित्र और कथानक का स्वरूप तथ्यात्मक (बौद्धिक) और भावात्मक दोनों रहता है। अन्योक्ति में तो हम बिना दार्शनिक आशय (प्रस्तुत) का शोध किये काव्य के साथ आगे बढ़

ही नहीं सकते, पर समासोक्ति में रूपक या अप्रस्तुत की स्थिति इतनी प्रमुख नहीं होती। ऐसे काव्य में दार्शनिकता रहती है, पर काव्य का प्रकृत स्वरूप भी रहता है, दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष रहते हैं। अन्योक्ति में वस्तुवर्णन और भावनिरूपण दोनो ही कृत्रिम और आलकारिक होते हैं, वास्तविक नहीं। कवि अपनी कल्पना के सामर्थ्य से ऐसे उपमानों को प्रस्तुत करता है जो उसके बौद्धिक उपदेश को भावात्मक पद्धति से चित्रित करने में सहायक होते हैं। यह अन्योक्ति या प्रतीक-पद्धति काव्य में कल्पना-चित्रों की बहुलता और भावानुरूपता पर आश्रित रहती है।

तीसरी पद्धति प्रकृत काव्य-पद्धति है जिसमें समस्त वस्तुनिरूपण और भाव-वर्णन स्वाभाविक रूप मे रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है। प्रसादजी की 'कामायनी' काव्य की रचना प्राकृतिक भाव-भूमि पर ही की गई है, यद्यपि उसमें एक दार्शनिक तथ्य निर्देश भी हुआ है। प्रसाद ने मानव-वृत्तियों का निरूपण करनेवाले अपने काव्य में एक दार्शनिकता का आभास अवश्य दिया है, पर वह दार्शनिकता काव्य का अंग बनकर आई है और उसकी प्रकृत भावनाभूमि पर ही अधिष्ठित है। वह काव्य के वस्तु-वर्णन और उसके भावात्मक स्वरूप को किसी प्रकार ठेस नहीं पहुँचाती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी काव्य अन्योक्ति तो है ही नहीं, उसे समासोक्ति भी नहीं कहा जा सकता। उसमें एक दार्शनिक अंतर्धारा मिलती है, परन्तु वह काव्य की स्वाभाविक भाव-व्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है।

वस्तुवर्णन और भावनिरूपण—पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना को सर्वतः स्वतत्र वस्तु माना है। कल्पना ही काव्य का निर्माण करती है। भारतीय आचार्यों ने कल्पना के दो रूप माने हैं—१. काव्य कल्पना, २. काव्यवाह्य कल्पना। भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भाव की सत्ता को हृदयग्राही वनाता है। भाव के विना कल्पना का अस्तित्व संभव नहीं। भाव-विरहित कल्पना कवि कल्पना नहीं है। मानसिक विश्लेषण और बौद्धिक चेष्टाएँ निरर्थक हैं, यदि वे मुख्य भाव या अनुभूति का पोषण नहीं करतीं। कवि कल्पना को प्रमुखता देकर और उसे एक मात्र काव्य-साधन मानकर यदि पश्चिमी आचार्यों ने काव्य में कल्पना की अवास्तविक और अवाध उड़ानों के लिए जगह छोड़ दी है, तो दूसरी ओर भारतीय भावसत्ता

के आग्रह में भी जीवन और जगत की वास्तविक गतिविधि और यथार्थ मानव-व्यवहार की उपेक्षा की भी पूरी संभावना रह गई है। वास्तव में पद्धतिवद्ध भावनिरूपण का ही रूढ़ रूप हम रीतिकालीन शृंगारिक कविता में पाते हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-धारणाएँ पूर्णतः अव्याहत नहीं हैं। इस दृष्टि से कदाचित् कोई भी काव्य-सिद्धात अपने में अकाट्य नहीं होता।

अस्तु, भारतीय धारणा के अनुसार भाव-निरूपण के लिए ही वस्तु वर्णन किया जाता है। वस्तु के स्वतंत्र चित्रण के लिए काव्य में अधिक अवकाश नहीं रहता, क्योंकि रस-निष्पत्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य होती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष अवश्य माना है, पर विभाव और भाव दोनों ही काव्य में रस का संचार करने के लिए होते हैं। विभाव के अन्तर्गत मानव जगत (आलम्बन रूप में) और प्रकृति की सत्ता (उद्दीपन रूप में) आ जाती है, और उन दोनों के अतिरिक्त कोई वर्णनीय वस्तु हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अनुभावों और संचारिओं के अंतर्गत मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक और मानसिक सत्ता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सैद्धातिक दृष्टि से रस के अंगों का निरूपण अपने में पूर्ण और अकाट्य है तथा उसमें किसी प्रकार की अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं पाई जाती।

यहाँ प्रश्न यह है कि काव्य के विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष में पारस्परिक सम्वन्ध क्या है? जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विभाव के अंतर्गत समस्त वस्तुवर्णन और चरित्र-निरूपण आ जाता है तथा भाव-पक्ष के अतर्गत भावों (संचारी भाव, अनुभाव आदि) का निर्देश होता है। स्पष्ट है कि भारतीय धारणा के अनुसार वस्तुवर्णन और चरित्र-निरूपण भी भावानुयायी ही होते हैं, स्वतंत्र नहीं। काव्य की भावसत्ता ही उसकी आत्मा होती है। नवीन पाश्चात्य विचार के अनुसार भी काव्य एक अखड व्यापार है। उसमें साध्य और साधन, विषय और विषयी, वस्तु-चित्रण और भाव-निरूपण पृथक्-पृथक् नहीं होते। एक ही कल्पना-व्यापार समस्त काव्य में व्याप्त होता है। वही किसी कृति को काव्यत्व देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की अखंड सत्ता दोनों प्रणालियों मे (भारतीय और पाश्चात्य) स्वीकृत है। अन्तर इतना ही है कि भारतीय प्रणाली भावात्मकता या अनु-

भूति का आग्रह करती है और पाश्चात्य प्रणाली कल्पना या सौन्दर्य की आश्रित है। एक यदि काव्य के निर्माण-पक्ष को ध्यान में रखकर चलती है, तो दूसरी उसके प्रभाव-पक्ष को ग्रहण कर चली है। इस आरम्भिक चर्चा के पश्चात् हम कामायनी के वस्तु-वर्णन पर आते हैं।

चिन्ता वस्तु का वर्णन कामायनी के आरम्भ में आया है। चिंता नाम की मानसिक वृत्ति को साकार रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी के साथ देवताओं के विलास का वर्णन भी किया गया है। देवताओं का पतन उनके विलास के कारण ही हुआ। यहीं प्रलय का वर्णन किया गया है। पहले अध्याय में यही तीन वर्णन मुख्य हैं। दूसरे सर्ग में उषा का वर्णन, हिमालय प्रदेश का वर्णन और मनु के सामने उपस्थित हुए नए जीवन के विकास का वर्णन है। फिर श्रद्धा सर्ग में कामायनी का सौन्दर्य-वर्णन रहस्य की आभा लिए हुए है। उसमें स्थूल अग-वर्णन और मानसिक प्रभाव की सृष्टि मुख्य रूप से की गई है। इसके आगे वासना का वर्णन कवि ने विस्तार के साथ किया है। सपूर्ण सर्ग में वासना की रूपरेखा सूक्ष्म ढंग से अकित की गई है। यह वासना-वर्णन वस्तून्मुखी और मनोवैज्ञानिक है। वासना के अनेक अनुभावों, मानसिक और शारीरिक प्रभावों का उल्लेख किया गया है। इसके अन्तर्गत सूक्ष्म और मनोमय वस्तु को साकार स्वरूप में उपस्थित करने का नया प्रयास प्रसादजी ने किया है। यहीं सौन्दर्य-तत्व और रूप का वर्णन भी किया गया है (पृष्ठ १००-१०२)।

इड़ा सर्ग में बहुत ही सुन्दर दार्शनिक वर्णन है। यहाँ मनु की जीवन-स्थिति को प्रसादजी ने वस्तु रूप में चित्रित किया है। प्रसादजी ने कामायनी के वियोग का भी अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किया है। प्रसादजी ने सघर्ष या युद्ध का भी वर्णन किया है जो विशेष सफल नही कहा जा सकता। प्रसादजी स्थूल वस्तुओं और जीवन दृश्यों का समारोहपूर्ण वर्णन करने में उतने सफल नहीं हुए जितने सूक्ष्म मानसिक तथ्यों को साकार रूप देने में। अतिम निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग दार्शनिक हैं। काव्यात्मक दृष्टि से कामायनी का जीवनगीत अत्यन्त सुन्दर है—

'तुमुल कोलाहल कमल में, हृदय की बात रे मन।

दर्शन सर्ग में प्रकृति का चित्रण किया गया है। अन्तिम दो सर्गों में भावना, कर्म और ज्ञान के तीनों लोकों का सुन्दर वर्णन है। आनन्द सर्ग के

आरम्भ में प्रकृति के अलौकिक आनन्दमय दार्शनिक नृत्य का वर्णन भी सुन्दर है।

इन प्रसंगों में किये गए वस्तु-वर्णन और भाव-निरूपण के अन्योन्याश्रित संबंध को समझने के लिए हमे भारतीय ध्वनि-सिद्धात पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। काव्य में आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और सचारी की सत्ता होते हुए भी रस को निष्पत्ति तभी होगी जब इन चारों के सयोग से पुष्ट होकर स्थायी भाव रस रूप से अभिव्यक्त हो सकेगा। जिन स्थलों पर विभावादि से रस की व्यंजना विना किसी व्यवधान के होते है, वे रस ध्वनि के स्थल कहलाते हैं और उसमे श्रेष्ठ काव्यत्व माना जाता है। उदाहरण के लिए, आदि कवि वाल्मीकि का सुप्रसिद्ध प्रथम श्लोक—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।

'रे निषाद, तू चिर दिन तक प्रतिष्ठारहित और अभिशप्त रहेगा, क्योंकि तूने मिथुन करते हुए क्रौंच पक्षियो के जोड़े में से एक को अभी मारा है।' ऊपर के शब्दों से कवि की शोक की भावना सीधे अभी करुण रस के रूप में व्यक्त हो गई है। ऋषि के शब्द हैं और उनसे प्रतीयमान रस है, बीच में कोई तीसरी वस्तु नहीं है। कामायनी मे भी रस के अनेकानेक प्रसग मिलते हैं। आरंभ में ही भयानक रस का एक उदाहरण यह है—

लहरें व्योम चूमती उठतीं चपलायें असंख्य नचतीं
गरल जलद की कड़ी झड़ी में, बूंदें निज संसृति रचती

यह असंलक्ष्य क्रम व्यग्य का उदाहरण है जिसे रस ध्वनि भी कहते हैं। यहाँ विभावादि से सीधे रस की व्यजना होती है।

परन्तु काव्य में ध्वनि के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें शब्दार्थ द्वारा किसी अलंकार या वस्तु की व्यंजना होती है, सीधे रस की नहीं। ये ही उदाहरण वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि के होते हैं। यहाँ विभावादि के द्वारा कोई वस्तु, गुण, चरित्र या अन्य तथ्य व्यंजित होता है। वास्तव में काव्यगत समस्त वस्तु-वर्णन इसी वस्तुध्वनि के अतंर्गत आता है। अलंकार ध्वनि भी वास्तव में वस्तु-ध्वनि ही है। अन्तर इतना ही है कि अलकार-ध्वनि में ध्वनित होनेवाली वस्तु अलंकार का रूप धारण किए रहती है। वस्तु और अलंकार-ध्वनि में जो वस्तु-वर्णन होता है, उसकी पहली आव-

श्यकता यह है कि वह काव्यात्मक हो। उससे सीधे न सही, किसी न किसी क्रम से रस की व्यजना होनी ही चाहिए। इस प्रकार वस्तु और अलंकार-ध्वनि मध्यवर्ती काव्य वस्तु है। उसका काव्यत्व अक्षुण्ण है। उसमें रस की सत्ता निश्चित रूप से है, भले ही वह कुछ दूरान्वयी हो। रसरहित वस्तु-ध्वनि और रसरहित अलकार-ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि काव्य की आत्मा रस है और वस्तु-ध्वनि तथा अलकार-ध्वनि का काव्य भी उत्तम काव्य कहा गया है।

इसीसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य में आया हुआ समस्त वस्तुवर्णन (वह प्रकृति-चित्रण के रूप में हो या चरित-चित्रण के रूप में, या अन्य किसी रूप में) वास्तव मे विभावादि से ध्वनित होनेवाले रस के अंतर्गत ही है, उससे वाहर या असपृक्त नही। दूसरे शब्दों में काव्य मे वस्तुनिरूपण काव्य की भावात्मकता का विरोधी वनकर किसी प्रकार नहा रह सकता।

कामायनी से वस्तुध्वनि और अलकार-ध्वनि का एक-एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासगिक न होगा।

अलंकार-ध्वनि—

हे अभाव की चपल वालिके, री ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल रेखा। (चिंता-वर्णन)

यहाँ चिंता के वस्तु-वर्णन मे अलकार ही नियोजित है।

वस्तु-ध्वनि—

देवों की विजय, दानवों की हारो का होता युद्ध रहा
सघर्ष सदा उर अंतर मे, जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आंसू से भीगे अंचल पर, मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधिपत्र लिखना होगा।

यहाँ नारी के स्वरूप और उसके कर्तव्यरूप वस्तु का वर्णन किया गया है।

केवल उन स्थलों में जहाँ शब्दार्थ मे व्यजना या ध्वनि का चमत्कारपूर्ण सामर्थ्य नहीं है, किसी रचना में हीनकाव्यत्व माना जायगा। हीनकाव्यत्व के भी दो भेद हैं—गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य। गुणीभूत व्यग्य में शब्दार्थ द्वारा विभावादि की व्यंजना तो होती है, परन्तु वह इतने सशक्त रूप मे नही होती कि काव्य को रसभूमि तक पहुँचा सके। वाच्यार्थ या इतिवृत्त ही प्रधान वना रहता है। स्पष्ट है कि ऐसे काव्य में कल्पना-व्यापार त्रुटिपूर्ण

रहता है। परन्तु जहाँ कल्पना-व्यापार का नितांत अभाव हो और केवल शब्दचित्र या अर्थचित्र ही प्रस्तुत किया जा सका हो, वह निकृष्ट काव्य का उदाहरण है। अस्तु, ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट होने में सहायता मिली कि काव्यगत वस्तुवर्णन काव्य की मूलवर्ती भावसत्ता से एकदम विच्छिन्न या टूटे हुए नहीं हो सकते। अब हम यहाँ देखना चाहेंगे कि कामायनी में वस्तुचित्रण और भावात्मकता का समन्वय किस रूप में हुआ है।

प्रथम सर्ग में मनु की चिंता को व्यक्त किया गया है। इसमें शोक स्थायी भाव और करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। करुण रस के उपक्रम में चिंता का चित्रण स्वाभाविक है, पर विलास को भी करुण रस के अंतर्गत कहना एक असाधारण-सी बात है। करुण रस के अंतर्गत स्मृति संचारी रूप में अतीत विलास का चित्रण किया गया है। विलासमय जीवन ही देवसृष्टि के प्रलय का कारण बना है। विलासी जीवन के प्रति वितृष्णा, ग्लानि और निर्वेद की भावना व्यक्त हुई है। प्रसादजी रूप और विलास का चित्रण यहाँ ग्लानि से प्रेरित होकर करते हैं। अतएव उनका विलास का चित्रण शृंगारी और उत्तेजक नहीं है। विलास वस्तु दो रूपों में चित्रित हुई है :—

१—विलास के स्वरूप का वस्तून्मुखी वर्णन (वस्तु-चित्रण)।

२—विलास के प्रति मनु की मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन (भावनिरूपण)। मनु यहाँ आश्रय के रूप में चिंता का अनुभव करते हैं। यह अनुभावमूलक वर्णन है। इसका सम्बन्ध आश्रय से है। मनु अपनी मानसिक स्थिति को व्यक्त कर रहे हैं; किन्तु साथ ही चिंता का स्वरूप वस्तुरूप में भी चित्रित किया गया है। इस प्रकार एक ही स्थान पर भावमूलक और वस्तुमूलक वर्णन एकत्र हो गए हैं। चिंता का स्वरूप-वर्णन वस्तुवर्णन है, तो मनु पर उसका प्रभाववर्णन भाववर्णन है। चिंता नामक मनोभावना विभाव या वस्तुरूप में भी और अनुभावरूप में भी चित्रित है। कुछ पंक्तियाँ चिन्ता वस्तु का स्वरूप निर्देश करती हैं और कुछ मनु पर उसके प्रभाव का निरूपण करती हैं। चिन्ता सर्ग के प्रलयवर्णन में करुण रस के अंगभूत भयानक रस की योजना की गई है। शोक स्थायी भाव के सहायक रूप में प्रलय का भयप्रद वर्णन किया गया है। यह आवश्यक नहीं कि किसी लक्षण-ग्रंथ में इन दोनों रसों के मिश्रण का उल्लेख हो ही। रसों का यह संगम और भावों का इस प्रकार टकराना हमारे साहित्य की परम्परागति पद्धति के अंतर्गत आ

जाय, यह अनिवार्य नहीं। प्रसादजी वास्तविक अनुभूतिशील कवि थे, वे रीतिवादी रचनाकार नहीं थे।

कामायनी काव्य में आलंबन का चित्रण कम है, क्योंकि पात्रों की सख्या बहुत थोड़ी है। परंतु वस्तुचित्रण पर्याप्त हुआ है, और विशेषकर सूक्ष्म मानसिक वस्तुओं को साकार रूप देने में कवि-कल्पना अधिक सफल हुई है। साथ ही पात्रों के मानसिक उद्‌गार, अनुभावों और सचारियों के रूप में विशद रूप में चित्रित हुए हैं।

हम कह चुके हैं कि प्रथम सर्ग में प्रलय, विलास, चिन्ता आदि वस्तुओं का चित्रण मनु की मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में अनुभावों और संचारियों का चित्रण है, परन्तु साथ ही चिन्ता, विलास आदि वस्तुओं को साकार रूप में व्यक्त करने का उद्योग वस्तुचित्रण भी कहा जायगा। प्रसादजी ने मानोभावनाओं को साकार रूप देकर चित्रित करने की जो चेष्टा की है, वह आलंबन विभाव के अतर्गत आएगी। आलबन का स्वरूप रखने मे— सूक्ष्म मानसिक तथ्यों को साकार रूप देने में—प्रसादजी ने कल्पना का सहारा लेकर शक्तिशाली अप्रस्तुत योजना की है। उनका वस्तु-निरूपण इसी अप्रस्तुत-योजना या रूपविधान (अलंकार) से सज्जित है।

पुराने समय में वस्तुयोजना के अन्तर्गत विवाह, अभिषेक, यज्ञ आदि और नदी, पहाड़, प्रातः, सध्या आदि विभिन्न मानव-प्रसगों और पदार्थों का वर्णन आता था। प्राचीन लक्षण-ग्रंथों ने इस बात का उल्लेख किया है कि इन प्रसगों का वर्णन महाकाव्य में अपेक्षित है। ये प्रसग मुख्यरूप से वर्णनीय होते थे। कवि इनका वर्णन बड़े विस्तार से करते थे। ये जीवन की मुख्य और प्रभावशालिनी वस्तुएँ होती थीं, जिनका वर्णन आवश्यक समझा जाता था। साथ ही महाकाव्य की एक पद्धति भी बन गई थी जिनमें उनका रहना आवश्यक समझा गया था। कामायनी के स्थूल वस्तु-व्यापार कम हैं। इनके बदले मानसिक वस्तुओं का वर्णन करने की कवि की प्रवृत्ति अधिक प्रमुख है। प्रस्तुत वस्तु—(चिन्ता, श्रद्धा, वासना आदि) सूक्ष्म और मानसिक हैं। वे अपने मे अव्यक्त भी हैं। उन मानसिक पदार्थों को वस्तु-रूप में व्यक्त करने की चेष्टा अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। वह समृद्ध कल्पना से ही साध्य है। प्राचीन काव्य में जो एक प्रकार के स्थूल वर्णन रहते थे, उनके स्थान पर प्रसादजी ने सूक्ष्म वस्तुओं को साकार रूप देने का आयोजन किया

है। उन्हें अनुभाव-रूप में अंशतः भावात्मक (Subjective) दृष्टि से ला रक्खा है, और अन्यत्र उन्हीं को विभाव या वस्तु-रूप (Objective) भी दिया है।

महाकाव्यत्व—जीवन के अनेक स्वरूपों और उनकी अनेक स्थितियों को महाकाव्य में स्थान मिलता है। चरित्रों के विभिन्न आदर्श उसमें रहा करते हैं। महाकाव्य में स्वभावतः वस्तुचित्रण की प्रमुखता होती है। कामायनी में वस्तुचित्रण मानसिक वृत्तियों की अभिव्यंजना के रूप में अधिक है। वस्तु-जगत के अनेकमुखी दृश्यों और परिस्थितियों का इसमें विशद उल्लेख नहीं है। मन के नाना उपकरणों, मानसिक स्थितियों और मनोभावों आदि का प्रत्यक्षीकरण अधिक है। प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन भी वस्तुरूप में मिलता है। वस्तुओं का समारोहपूर्ण विशद वर्णन होने पर काव्य में एक औदात्य आ जाता है, किन्तु सूक्ष्म मानसिक वृत्तियों और वस्तुओं का स्वरूप-आलेख भी कल्पना की उच्चतर शक्ति से ही संभव है। कामायनी में व्यक्त वस्तुओं का वैविध्य और उससे उत्पन्न औदात्य नहीं है, इसलिए कुछ लोग कामायनी को महाकव्य नहीं मानते। कामायनी में रामायण-जैसा परंपरागत देव-दानव संघर्ष भी नहीं दिखाया गया। इससे वीररस संभूत जो गरिमा रामायण में है, कामायनी में नहीं। कामायनी में युद्ध और संघर्ष का वर्णन ही कदाचित् सबसे अधिक प्रभावहीन है। प्रजा के साथ मनु का युद्ध वास्तविक युद्ध की अपेक्षा छायात्मक और प्रतीकात्मक है, परन्तु इस वाह्य संघर्ष के स्थान पर मन के अन्तरंग संघर्ष का—बुद्धि और श्रद्धा के बीच मन की भटकी हुई स्थिति का - मार्मिक और गंभीर चित्रण कामायनी में अवश्य है। यह मनोवैज्ञानिक संघर्ष काव्योचित महत्त्व लिए हुए हैं। और भी कितने ही द्वंद्व और समस्याएँ काव्य में आई हैं।

सारस्वत प्रदेश में बुद्धिवादी भौतिक विकास को जो आज की ही सामाजिक प्रगति का सकेतक है, प्रसादजी ने पर्याप्त समारोह के साथ दिखाया है। प्रकृति और मनुष्य के बीच प्रकृति पर शासन करने की आज की बद्धमूल धारणा के औचित्य पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगाने में प्रसादजी समर्थ हुए हैं। वर्तमान और स्थायी मानवसंघर्ष या विरोधों के बीच सामंजस्य या समरसता लाने के प्रसादजी के क्रांतिदर्शी प्रयास की चर्चा निबंध के आरम्भ में की जा चुकी है। प्रसादजी की मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि और उनके द्वारा

ग्रहण किए गए वर्तमान विज्ञान के प्रभावों का भी उल्लेख किया जा चुका है।

प्रसादजी भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के अध्येता और अनुयायी हैं। वे सुख और दुःख को तात्विक वस्तु मानने के विरोधी हैं। सुख और दुःख की भावनाओं के ऊपर प्रतिष्ठा पानेवाले आनन्द तत्त्व का प्रसादजी ने आदर्श निरूपण किया है। उन्होंने समस्त द्वैतों का परिहार इसी आनन्द के अंतर्गत किया है। त्रिपुर-दाह के रूप में त्रिगुणात्मिका सृष्टि के द्वंद्व का परिहार और उसका सामंजस्य दिखाया है। वर्तमान जीवन की सभी मुख्य और मूलभूत समस्याओं को प्रसाद ने 'कामायनी' काव्य में ग्रहण किया है। नारी के आदर्श-संस्थापन द्वारा प्रसादजी ने नवयुग की प्रतिनिधि प्रेरणा को सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी की मूल कल्पना उदात्त है और उक्त उदात्त कल्पना का व्यक्तीकरण भी सफलता-पूर्वक किया गया है। प्रसाद के काव्यगुणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। प्रसाद की काव्यशैली में नवीनता और उनके भाषा प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और काव्यानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया है। इस प्रकार प्रसादजी की वस्तु-कल्पना के महत्व को स्वीकार कर उक्त कल्पना को पूर्ण काव्यात्मक आच्छद में व्यक्त करने के उच्च काव्यकौशल को भी स्वीकार करना पड़ता। तभी परंपरागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नए युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में हमें कोई हिचक नहीं होती।

(सन् १९५०)

स्वतन्त्र नाट्यकला का आभास

'प्रसादजी के दो नाटक'—इस नाम की एक पुस्तक श्रीयुत् कृष्णानन्द गुप्त ने गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ से प्रकाशित कराई है, जो वास्तव में उनके लिखे हुए दो लेखों का संग्रह है। ये लेख श्री जयशकर प्रसादजी के 'स्कदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों की समीक्षा के रूप में लिखे गए थे और अब ये पुस्तकाकार हमारे सामने उपस्थित हैं। हम देखते हैं कि 'स्कदगुप्त' की समीक्षा छोटी है, शिथिल भी है और अनुभव करते हैं कि पुस्तक का मूल्य १) रु० रखने के आशय से जोड़ दी गई है। पर वास्तव मे उससे पुस्तक का मूल्य घटता है, वढ़ता नहीं। 'चन्द्रगुप्त' की समीक्षा लगभग सवा सौ पृष्ठों में समाप्त हुई है और उसके पहले लगभग पन्द्रह पृष्ठों की भूमिका दी गई है जो अधिकाश में वेकार-सी है। 'चन्द्रगुप्त' को समीक्षा में कृष्णानन्दजी की तर्कशक्ति का चमत्कार दर्शनीय हुआ है। पाठकों को धाराप्रवाह में वहा ले जानेवाली यह समीक्षा स्वयं ही एक स्वतन्त्र रचना वन गई है।

यह वैसी ही चीज है जैसी वर्नार्डशा को लिखी नाटक-समीक्षाएँ अथवा स्वय वर्नार्डशा पर लिखी गई मिस्टर जी० के० चेस्टरटन की 'जार्ज बर्नार्ड शा' नाम की आलोचनात्मक जीवनी। वैसी ही चीज का यह अर्थ नहीं कि यह उतनी ही मार्मिक चीज है; अर्थ है कि वह उसी प्रणाली पर लिखी गई है। शा महाशय ने अपनी नाटक-समीक्षाओं की संग्रहपुस्तक में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उन्होंने वे समीक्षाएँ इतनी तीव्र इसलिए लिखी हैं कि उन्हें स्वयं ही उस (नाटकों के) क्षेत्र में आकर काम करना था और जीविका अर्जित करनी थी। फिर उन्होंने चेस्टरटन की लिखी अपनी जीवनी पढ़कर यह सम्मति दी कि यही सबसे श्रेष्ठ पुस्तक है जो मुझपर लिखी गई है। अंग्रेजी के पाठक जानते हैं कि मिस्टर चेस्टरटन श्रीयुत् शा के नाटकों के प्रशंसक नहीं हैं और उन्होंने 'शा की जीवनी' में उनकी एकाङ्गिता का बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन किया है। तथापि शा विचलित नहीं हुए और उन्होंने दूसरे दृष्टिकोण को स्वीकार किया। श्रीकृष्णानन्द की भूमिका में जो वैमनस्य का भाव झलकता है, वह उनकी चन्द्रगुप्त-समीक्षा के योग्य नहीं हुआ। यदि

इस वैमनस्य को वैमनस्य कहकर वे स्वीकार करते, जैसा कि कुछ विद्वान् पाठक स्वीकार ही करेंगे, तो पुस्तक को अधिक यथार्थ पद प्राप्त होगा। तथापि हम यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त-समीक्षा प्रसादजी के सम्बन्ध में लिखे गए अधिकांश साहित्य से अधिक सुगठित और शक्तिशाली हुई है।

किन्तु समीक्षा का आधार बहुत अधिक भ्रामक है। मूल में ही अशुद्धि है। उसीसे सम्पूर्ण पिंड की उत्पत्ति हुई है। जब गुप्तजी ने 'सुधा' में क्रमशः प्रकाशित होनेवाली आलोचना का प्रथम खंड हमारे देखने के लिए भेजने का कष्ट किया था, तभी हमने संकेत रूप में दो-चार पंक्तियाँ लिखकर भेजी थीं जिन्हें उन्होंने अपनी भूमिका में उद्धृत किया है—"मैं समझ रहा हूँ आपको डी० एल० राय बहुत अच्छे लगते होंगे; क्योंकि वे आदि से अंत तक पात्रों को एकरस रखते हैं"...यद्यपि भूमिका में गुप्तजी हमारे इस आरोप को स्वीकार नहीं करते तथापि उनकी समीक्षा के मूल में ही वह विद्यमान है। समीक्षा की प्राथमिक पंक्तियों में ही वे लिखते हैं, "आधुनिक नाट्यकार जिस प्रकार मनुष्यचरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं, मेरे लिए उसी प्रकार समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है।" इस एक ही पंक्ति में गुप्तजी ने अपनी सम्पूर्ण समीक्षा की दिशा दिखा दी है। हमने इसी पंक्ति का सार समझकर गुप्तजी की उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं और अब नीचे उसी पर फिर लिखने की आवश्यकता है।

"आधुनिक नाट्यकार मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं।" ये कौन-से आधुनिक नाट्यकार हैं और क्या वे नाट्यकार नाट्य-समीक्षक भी हैं ? आश्चर्य की बात है कि जब हम प्रचलित यूरोपीय साहित्य में सब से आधुनिक और प्रतिष्ठित नाट्य-समीक्षकों को एक स्वर से यह कहते सुन रहे हैं कि नाटक की समीक्षा अन्य ललित-कलाओं की समीक्षा से बिलकुल भिन्न, अभिनव के सम्पूर्ण साजबाज और वातावरण को ध्यान में रखकर करनी चाहिए, तब श्रीयुत् गुप्त इन 'मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द माननेवाले' नाट्यकारों की उद्भावना कर रहे हैं। नाटक सचमुच ललित-कला नहीं है। हमारे भारतीय नाट्यशास्त्र में भी जिस विस्तार के साथ रसपद्धति पर विचार किया गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक

का प्रभाव उसकी सम्पूर्ण दृश्यावली के भीतर पात्रों की रूपरेखा. अंग-संचालन से लेकर सीन-सीनरी के समुचित चमत्कार तक के द्वारा पड़ता है। आधुनिक नाट्य समीक्षक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि नाटक की समीक्षा करते हुए दर्शकों के कार्य-शिथिल, बुद्धि-शिथिल भाव का भी विचार रखना चाहिए। ये जो नाटकों के विजयी प्रतिद्वंद्वी सिनेमा के चलचित्र आविर्भूत हो गये हैं, इनका कारण एक बड़े अंश में दर्शकों की रूपलालसा ही है। परन्तु कृष्णानन्दजी ने जिस काल्पनिक प्रक्रिया से 'चंद्रगुप्त' का अभिनय देखा है, वह नाटकीय समीक्षा के साथ न्याय करने की दृष्टि के बहुत अधिक अवास्तविक हो गया है।

"मेरे लिए समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है" – यह तो प्राचीन अविकसित ग्रीक अभिनयों और भारतीय रासमंडलियों को आधुनिक शोभाशाली नाट्यगृहों पर कब्जा करने देने का उपक्रम हुआ। आधुनिक नाट्य-समीक्षा की यह शैली तो नहीं हुई। परन्तु श्री गुप्त इस शैली को लेकर चले हैं। इस शैली का अर्थ ही यह होता है कि आप नाट्यसमीक्षा के साथ अन्याय करेंगे; आप एक-एक पात्र की एक-एक वात को इतना अधिक तूल क्यों न दें जव कि वे वातें ही एकमात्र आपके सामने हैं। इसी तूल देने के कारण तो समीक्षा उस रूप में ढल गई है जिस रूप में ढलने के कारण 'पात्रों को एकरस' देखने की शिकायत की गई थी। 'एकरस' देखने के लिए श्री गुप्त अपनी समीक्षा-शैली के कारण बाध्य हो गए हैं, अनिच्छा-पूर्वक ही सही। इसके साथ ही अज्ञात रूप में उनकी भावुकता भी अपना करामात दिखाती, पात्रों को और अधिक जकड़कर (Stereotyped) मूर्तिवत् वना देना चाहती है। नाटककार स्पष्ट रीति से यह वार्ता स्वय नन्द के मुख से कहा रहा है कि एक दिन के लिए राजधानी के नागरिकों के साथ वह समारोह में सम्मिलित हो रहा है। अन्यत्र उसने यह संकेत भी कराया है कि नन्द वड़ा ही कठोर प्रकृति का शासक है। परन्तु इन दोनों कथनों का गुप्तजी ने अपने मस्तिष्क में संग्रह किये विना ही नन्द की विलास-चेष्टाओं का एक दृश्य देखकर मानो उन चेष्टाओं को ही मूर्तिमान् नन्द समझ लिया। आगे का उद्गार इसका साक्षी है—

"विलासिता का वह नग्न रूप जिस दिन प्रजा देख लेती है, उस दिन छत्रधारी नरेशों के राजमुकुट अपने आप ही स्खलित होकर धूलि में लोटने

लगते हैं। उसके लिए फिर चाणक्य और उसकी भीमशक्ति की जरूरत नहीं रहती।"

यह कोरी भावुकता समीक्षा में नाटककार के हल्के चित्राकण की प्रशंसा करने में असमर्थ और चित्र मे मोटी-मोटी गहरी रेखाएँ देखने का आग्रह करती है। हिन्दी में यह भावुकता अपनी अतिशयता में व्याप्त है—यह भिन्न-भिन्न रचनाकारों के प्रकृति-भेद के साथ कभी न्याय नहीं कर सकती। इस भावुकता के बहुत-से उदाहरण गुप्तजी की समीक्षा में देखने को मिलते हैं। आरम्भ का ही एक नमूना—नन्द—(चाणक्य से) "ब्राह्मण, तुम बोलना नहीं जानते हो तो चुप रहना सीखो।"

चाणक्य—"महाराज उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था .. इसीलिए मेरा हृदय यह नहीं मान सकता कि मै मूर्ख हूँ।"

इसमें स्पष्ट ही चाणक्य के उत्तर मे नन्द के प्रति एक मीठी चुटकी है कि तुम्हारे राज्य में इस बात की शिक्षा नहीं है, जानकारी नहीं है कि किस अवसर पर चुप रहना चाहिए। "मुझे उसे सीखने के लिए तक्षशिला जाना पड़ा। अतः मैं मूर्ख नहीं हूँ......"

राजसभा की शिष्टता की रक्षा करते हुए यही सब से श्लाघनीय उत्तर चाणक्य दे सकता था, किन्तु गुप्तजी लिखते हैं, 'राजसभा मे उसकी (चाणक्य की) यह दुर्बलता हो सकती है, किन्तु श्लाघनीय नहीं।' इसी तरह के अनेक हल्के स्वाभाविक चित्रण श्री गुप्त की आस्वाद-सीमा से बाहर हैं। और प्रसादजी की नाटकीय कला में ऐसे ही चित्रणों का बाहुल्य है। फिर मेल कैसे मिले ?

प्रसादजी की नाट्यकला जहाँ एक ओर डी० एल० राय की-सी भाव-प्रधान और एकरस नहीं है, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक आधार लिए हुए है, वहाँ दूसरी ओर वह 'इब्सन' अनुयायिनी भी नहीं है। कृष्णानन्दजी की समीक्षा का दूसरा मुख्य आधार है 'इब्सोनियन रंगमञ्च, अभिव्यक्ति शैली और इब्सोनियन बुद्धिवाद।' इन मापदंडों को लेकर वे प्रसादजी को नापने चले हैं। यह स्पष्टतः एक अनौचित्य ही नहीं, सरासर अन्याय भी है। प्रसादजी की परीक्षा उनकी अपनी अभिव्यक्ति शैली, नाटकीय विन्यास और कला के आधार पर ही की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी न तो

इब्सन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति और न उनके बुद्धिवाद को ही ग्रहण करने को तैयार थी। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसादजी के विचारों को उद्धृत करना अधिक अच्छा होगा। इब्सन के पदचारी नवीनता के खोजी हिन्दी नाट्य-समीक्षकों के लिए वे कहते हैं—

"युग के पीछे हम चलने के स्वांग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के लिए, उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए, घटना मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रमविकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते रहेंगे! और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों के सोचने या निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है। अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का नियंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटक के लिए तो ऐसी जल्दबाजी बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पष्ट व्यक्तिवैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है जो नाटक के संबंध में विचार करनेवाले को उद्विग्न कर रहा है! प्रगतिशील विश्व है, किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, पर इतना ही अलं नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तब हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है। इसलिए साहित्य में हमको एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।... पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नए को नहीं पाया है।"

इस लम्बे उद्धरण से सर्वांशतः हम चाहे सहमत न हों, किन्तु इसमें बहुत-

सी सारगर्भित बातें हैं जिनकी ओर नवीन नाट्य-समीक्षक बिना ध्यान दिये नहीं रह सकते। इब्सन के अतिरिक्त भी नाटक और नाट्यकला है, भिन्न नाटकीय टेकनीक और अभिव्यक्तियाँ हैं, उनकी अपनी विशेषताएँ हैं, उनका अध्ययन उन्हीं के अनुकूल होना चाहिए, इतना भी विचार कृष्णानन्दजी ने अपनी समीक्षा में नहीं रक्खा।

समीक्षा में एक और विक्षेप इस कारण उपस्थित हुआ है कि श्री कृष्णानन्द इतिहास की पुस्तक लेकर नाटक देखने बैठे हैं। ऐसा कोई नहीं करता। फिर उनकी यह धारणा भी प्रकट हो रही है कि इतिहास के वर्णन से नाटक का चित्रण अधिक प्रभावशाली होना ही चाहिए। पर इसका क्या अर्थ है? इतिहास का रंगमंच विस्तृत, उसके पाठक की कल्पना भी उतनी ही विस्तृत, सदैव उसके साथ रहती है। नाटक की छोटी रंगशाला से उसका क्या मुकाबला? नाट्य-रचना में कथानक, अभिव्यक्ति, चरित्रविकास और जीवन-व्यापार के बाहुल्य, उत्कर्ष, अथवा भेदोपभेदों के प्रदर्शन में बहुत-से अनिवार्य प्रतिबध लगे रहते हैं जो नाटकीय कला और अभिनय से संबधित हैं। इतिहास या आख्यानक साहित्य उन सब से बरी रहता है। किन्तु श्री कृष्णानन्द चूँकि नाटक देखते हुए अपनी इतिहास की पुस्तक पढ़ते जा रहे हैं, इसलिए उनकी कल्पना वैसी ही होती चली गई है और नाटक की रंगशाला के उपयुक्त वह स्वभावतः बन नहीं सकी है।

श्री कृष्णानन्द-जैसे नाट्य-समीक्षक को दृष्टि में रखकर ही प्रसादजी ने लिखा है—

'हिन्दी में कुछ अकालपक्व आलोचक जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले—जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है, तीन-चार मिनट के लिए काला पर्दा खींचकर दृश्यांतर बना लेने के अवसर रंगमच को दें। हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलत. अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की

गहरी छाप है। . रंगमंच की तो अकाल मृत्यु हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय कर लेती हैं, पुकार होती है आलोचकों की हिन्दी में नाटकों के अभाव की। रंग-मच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता ; क्योंकि दोष-दर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा 'कीन' ने किया था।'

इन उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रसादजी नाट्यकला संबंधी स्वतंत्र आधार लेकर चले हैं और उसकी परीक्षा के लिए अनुकूल रंगमच का होना भी आवश्यक है। बिना ऐसी परीक्षा का अवसर दिये, यह कहना कि प्रसादजी की भाषा जटिल है, नाटक नाट्योपयोगी नहीं, प्राथमिक उत्तर-दायित्व से मुँह मोड़ना है। प्रसादजी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और रोमैण्टिक नाटकों की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएँ हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उनकी स्वतंत्र नाट्यकला का अध्ययन न कर राय या इब्सन की विशेषताओं को उनमें ढूँढ़ना नादानी होगी। हिन्दी के स्वतत्र रंगमच की स्थापना के बिना प्रसादजी के नाटकों की सर्वाङ्ग समीक्षा नहीं हो सकेगी। उसका नाट्य-चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिए होना चाहिए।

(१६३२ सितम्बर)

पूर्वी और पश्चिमी नाट्य तत्त्व

१. पूर्वी तत्त्व

भरत के नाट्यशास्त्र में रगमंच, अभिनेता, उनके वस्त्राभरण, संगीत, नृत्य, आंगिक, वाचिक और आहार्य अभिनय आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, रस और भाव की मीमासा के साथ नाटकों के अनेक भेदोपभेदों की परिगणना की गई है। नाट्य-साहित्य के सम्बन्ध में यह पहला उपलब्ध ग्रथ है।

भरत के पश्चात् धनजय का दशरूपक नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। इसमें प्रायः वे ही विषय मिलते हैं जो नाट्यशास्त्र में हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र के संपूर्ण विषयों का ग्रहण इसमें नहीं किया गया है और न उतना विस्तार ही आ पाया है। नाटक के चारों उपकरण—वस्तु, नेता, रस और संवाद—इस ग्रंथ में विवेचित हुए हैं। धनंजय के पश्चात् विद्यानाथ की 'प्रताप रुद्रीय' और विद्याधर की 'एकावली' नामक रचनाएँ नाटकों का विवेचन करती हैं। इस सम्बन्ध के सबसे अन्तिम लेखक विश्वनाथ कविराज हैं, जिन्होंने साहित्य-दर्पण नामक ग्रंथ मे नाटकीय सिद्धान्त का उल्लेख किया है। साहित्य-दर्पण का एक अध्याय इसी विषय से सम्बन्ध रखता है। यह भी भरत के नाट्यशास्त्र की ही बातों को लेकर लिखा गया है, यद्यपि इसमें स्पष्टता नाट्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक है।

नाट्यशास्त्र में नाटक को अनुकृतिमूलक काव्य माना गया है। इनमें व्यक्तियों के कार्यों, उनकी स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार इंगित, वाणी, वस्त्र और वेश-भूषा हैं। किन्तु केवल अनुकृति ही पर्याप्त नहीं है। अनुकृति का लक्ष्य है दर्शकों के मनोगत भावों के उन्मेष द्वारा काव्यरस की प्रतीति कराना। रस की निष्पत्ति ही भारतीय नाटक का प्रधान उद्देश्य माना गया है।

इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य तत्त्वों में वस्तु, चरित्र (नायक) और संवाद भी हैं। नाटकों के अनेक भेद होते हैं, और उन्हीं के अनुसार कथा-

नक तथा पात्रों के भेद भी होते है। किन्तु रस का स्थान सभी नाटकों में रहता है। इससे यही सिद्ध होता है कि रस की सृष्टि ही नाटक-रचना का मुख्य उद्देश्य है।

नाटक का कथानक (वस्तु) तीन प्रकार का हो सकता है। प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र प्रख्यात कथानक किसी प्राचीन पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्ति से संबंधित होता है। उत्पाद्य नाटक में कवि अपनी कल्पना द्वारा पात्रों की सृष्टि करता है. मिश्र कथानक वह है जिसमें उत्पाद्य और प्रख्यात कथानकों का मिश्रण हो। किंतु इसमें इस वात का ध्यान रखा जाता है कि प्राचीन कथा में ऐसी काल्पनिक बातें न जोड़ी जायँ जिनसे श्रोताओं के विश्वास को धक्का लगे और रस-भंग हो।

इन कथानकों में प्रख्यात कथानक ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रायः सभी नाटककारों ने इसीका आश्रय लिया है। कालिदास को अपने 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक में दुष्यंत के चरित्र को महाभारत के दुष्यत से कुछ भिन्न रखना पड़ा है। कवि ने अपनी कल्पना द्वारा दुष्यंत के चरित्र में केवल उन अंशों को परिवर्तित किया है जिनसे वह और भी उदात्त हो जाय। किसी प्रसिद्ध घटना को तोड़ मरोड़कर नहीं रक्खा गया। महाकाव्य में नायक के दोष भी दिखाए जा सकते हैं, जैसे—रामायण में वालि-वध का प्रकरण। किन्तु नाटक के सीमित आकार में नायक के दोष-दर्शन के लिए स्थान नहीं है। ऐसा करने से रस के निष्पन्न होने में बाधा पड़ती है।

कथानक को आधिकारिक और प्रासंगिक दो भागों में बाँटा गया है। आधिकारिक कथानक वह है जिसका सम्बन्ध नाटक के मुख्य कार्य या उद्देश्य से होता है, जिसकी प्राप्ति मे नाटक के प्रधान नायक का हाथ रहता है। प्रासगिक कथानक के दो भेद होते हैं—१. 'पताका' जिसमे प्रासगिक कथानक अधिक विशाल होता है और स्थान-विशेष से आरम्भ होकर नाटक के अन्त तक चलता है, जैसे रामायण में सुग्रीव का आख्यान; २. 'प्रकरी' का प्रासंगिक कथानक संक्षिप्त होता है और आरम्भ होने के पश्चात् शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, जैसे रामायण में जटायु का प्रकरण।

नाटक में कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। 'आरम्भ' में नायक अपनी लक्ष्य प्राप्ति के लिए इच्छा प्रकट करता है। 'प्रयत्न' में वह इष्टप्राप्ति के लिए गंभीर उद्योग

करता है। 'प्राप्त्याशा' में इष्ट की प्राप्ति और अप्राप्ति का द्वंद्व उस अवस्था पर पहुँचता है जहाँ प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। 'नियताप्ति' में इष्ट के प्राप्त करने में केवल एक ही मुख्य बाधा शेष रहती है जिसके दूर होते ही कार्य की सिद्धि हो जाती है। इष्टसिद्धि की अवस्था को 'फलागम' कहते हैं।

फल प्राप्ति के सम्बन्ध से वस्तु या कथानक को भी पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। इन्हें अर्थ-प्रकृति के नाम से अभिहित करते हैं। इन पाँचों अर्थ-प्रकृतियों के नाम हैं—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। बीज से कार्य की उत्पत्ति होती है। यही मुख्य फल का हेतु है। विन्दु से कार्य का प्रसरण होता। समाप्त होनेवाली अवान्तर कथा को प्रधान कथा से जोड़ देना ही इसका मुख्य कार्य है। पताका और प्रकरी का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कार्य नाटक का प्रधान साध्य है। इसीके हेतु समस्त उपकरण एकत्र किए जाते हैं। अर्थ-प्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं को जोड़ने के लिए आचार्यों ने पंचसंधियों की व्यवस्था भी की है। उनके नाम हैं—मुख संधि, प्रतिमुख संधि, गर्भ सधि, विमर्श सधि और निर्वहण संधि। मुख सधि में प्रारम्भ अवस्था और बीज अर्थप्रकृति का संयोग होता है। प्रयत्न अवस्था और विन्दु अर्थ-प्रकृति का मेल प्रतिमुख संधि में होता है। प्राप्त्याशा और पताका के योग को गर्भ संधि कहते हैं। नियताप्ति और प्रकरी का संयोग विमर्श सधि में होता है। फलागम और कार्य के संयोग को निर्वहण संधि कहते हैं।

वस्तु या कथानक के पाँच भेद (जिन्हें ऊपर अर्थ-प्रकृति कहा गया है) नाटक के अग-विन्यास के सूचक हैं। जिस प्रकार मनुष्य की आकृति और उसके अंगों की सगति होने पर ही उसका सौन्दर्य निखरता है, उसी प्रकार कथानक (या अर्थप्रकृति) की संगति पर नाटक में सम्यक आकर्षण आता है। कथानक के ये भेद नाटक के वाह्य सौन्दर्य के विधायक हैं। इससे भिन्न कार्यावस्था या व्यापार का तत्त्व नाटक को सजीव और सप्राण बनाने के उद्देश्य से नियोजित किया जाता है। वह नाटक का अंतरंग और गतिशील तत्त्व है। वस्तु-संघटन और व्यापार की समुचित योजना, दोनों मिलकर नाटक को पूर्ण कलात्मक उत्कर्ष देते हैं। कथानक-सम्बन्धी तीसरा तत्त्व सधियों का है। वस्तु (अर्थप्रकृति) और व्यापार (कार्यावस्था)

के पाँच भेदों के अनुरूप संधियों की संख्या भी पाँच मानी गई है। नाटक के वे चमत्कारपूर्ण स्थल जो सहसा सहृदयों की दृष्टि आकृष्ट करते हैं, तथा जिन स्थलों से कथानक एक नवीन मोड़ या दिशान्तर प्राप्त करता है, संधि कहलाते हैं। संधियों के उचित सस्थान से वस्तु या कथानक की शोभा और व्यापार या कार्य की प्रगति में नया चमत्कार आ जाता है। इस प्रकार भारतीय पंडितों ने नाटकीय वस्तु के निर्णय और निर्माण के संबंध में तीन-तीन कसौटियाँ प्रस्तुत की हैं—तीन-तीन विधियाँ बताई हैं। वास्तव में वस्तु, कार्य तथा संधियों के अन्य अनेक भेद भी किए गए हैं, परंतु मुख्य ये ही पाँच हैं।

कथानक के अन्य दो भेद भी किए जाते हैं, दृश्य और सूच्य। दृश्य का विचार हो चुका है। सूच्य का अर्थ है जो सूचित किया जाय। सूच्य कथाओं को अर्थोपक्षेपक भी कहा जाता है। युद्ध, हत्या, मृत्यु इत्यादि सूच्य कथाएँ होती हैं। विवाह, भोजन भी नाटक में नही दिखाए जाने चाहिए। सूच्य के पाँच विभाग किए गए हैं। विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकमुख और अंकावतार। सूच्य वस्तुओं के और भी भेद हैं, जैसे स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशभाषित। भूत और भविष्य की कथाएँ जब मध्यम पात्र द्वारा सूचित की जायँ, तब उन्हें विष्कभक के अतर्गत समझना चाहिए। प्रवेशक में भूत और भविष्य की कथाओं की सूचना नीच पात्र देते हैं। नेपथ्य द्वारा दी गई सूचना चूलिका कहलाती है। किसी अक के अंत में आगे के अंक में घटित होनेवाली घटना की सूचना को अकावतार कहते हैं। जब पिछले अंक के अंत में आए पात्र अगले अंक के आरभ में अभिनय करते हैं, तब उसे अंकमुख कहा जाता है।

कथा का विचार करने के बाद पात्रों या चरित्रों पर भी विचार किया गया है। नाटक में प्रधान पात्र को नायक कहते हैं। स्वभाव भेद से इनके चार प्रकार होते हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशात और धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक उच्च कुल का वीर और उदार व्यक्ति होता है। धीर प्रशात ब्राह्मण हुआ करता है। धीरोद्धत प्रतिनायक तथा नायक भी हो सकते हैं। यह स्वभाव से दर्पपूर्ण होता है। नायक का साथी पीठमर्द कहलाता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' का मित्र सिंहरण पीठमर्द है।

नायिकाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—स्वकीया, अन्या और गणिका।

आयु के हिसाब से स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्य और प्रगल्भा (प्रौढ़ा)।

नायकों और नायिकाओं के संबंध के अनुसार नायिकाओं के आठ भेद होते हैं—स्वाधीनपतिका, वासक सज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका। अयत्नज, स्वभावज और अगज, नायिका के तीन स्वाभाविक अलंकार होते हैं। नायक का अंतरग मत्र और ब्राह्मण विदूषक होता है। कोई कवि या कलाओं का प्रेमी नायक का मित्र विट कहलाता है।

दूत या प्रतिहार के अतर्गत मत्री आदि नाटक के पात्र आते हैं। कुमार, सेनापति, न्यायाधीश भी नाटक के पात्र होते हैं।

प्रधान रानी का नाम महादेवी होता है। रानी न होने पर राजा की प्रेयसी स्वामिनी कहलाती है।

रस दृश्य काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस भाव की आनदात्मक अनुभूति है। इसे सस्कारशील व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं। नाटक में वीर और शृंगार रस प्रधान होते हैं और अद्‌भुत रस नाटकीय प्रभाव की सृष्टि के लिए लाया जाता है।

वृत्ति—रसानुकूल प्रभावउत्पन्न करने के लिए वृत्तियों के प्रयोग का विधान है। ये चार प्रकार की मानी गई हैं। कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी में नृत्य और गान अधिक होते हैं। इसमें पुरुष-स्त्री दोनों भाग लेते हैं। शृंगार-प्रधान नाटकों में इसी वृत्ति का उपयोग होता है। वीर, अद्‌भुत और भयानक के अनुकूल सात्वती वृत्ति है। आरभटी भयानक और रौद्र के लिए अधिक अनुकूल है। इसमें छल, जादू आदि की प्रधानता होती है। भारती वृत्ति केवल भाषा-प्रयोग पर आधारित है। सभी रसों में इसका अनुकूल प्रयोग हो सकता है।

नाट्याचार्यों ने उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के अनुकूल जो अलग-अलग भाषा-प्रकार का निर्देश किया है, उससे यही अर्थ निकलता है कि नाटक की भाषा पात्र के अनुकूल होनी चाहिए। नृत्य के भी दो भेद हैं, ताडव और लास्य। नृत्य और गान भी रस के अनुकूल होने चाहिए। ताडव वीर रस का और लास्य शृंगार रस का नृत्य है।

२. पश्चिमी तत्त्व

पश्चिमी परंपरा के अनुसार नाटक का प्रमुख तत्त्व 'वस्तु' है। अरिस्टोटल ने वस्तु-विन्यास की चर्चा बड़े विस्तार से की है। उसने यह बताया है कि वस्तु और चरित्र में वस्तु को क्यों प्रधानता दी जाती है। उसके मत में चरित्र तो व्यक्तियों का निष्क्रिय गुण है, किन्तु वस्तु मानव-जीवन का सक्रिय और गतिशील रूप है। नाट्य वस्तु ही चरित्रों को प्रभावित करती और उनको स्वरूप देती है। वस्तु अथवा नाट्य-घटना ही चरित्रों के सुख-दुख का कारण होती है। अरिस्टोटल के मतानुसार चरित्र के बिना नाटक बन सकता है, परंतु वस्तु के बिना उसकी सत्ता नहीं रह सकती। केवल चरित्र की सूचना देनेवाले कुछ संवाद किसी नाटक में हो सकते हैं, परन्तु केवल उन संवादों से ही नाटक नहीं बनता। नाटकीय प्रभाव, सक्रियता और चरित्रों की सजीवता और गतिशीलता के लिए वस्तु का निर्माण होता है। वस्तु नाटक का सचेतन और गतिशील आधार है। वस्तु के अन्तर्गत ऐसी घटनाओं का सन्निवेश भी किया जाता है जिससे नाटक में कौतूहल की वृद्धि होती है और दर्शकों को तदनुकूल आनन्द मिलता है। इन्हीं कारणों से नाटक में चरित्र की अपेक्षा वस्तु का महत्त्व अधिक होता है। इसकी पुष्टि के लिए अरिस्टोटल ने चित्र-कला का उदाहरण भी दिया है। यदि एक चित्र में अनेक रंग भर दिए जायँ, किन्तु उनमें सार्थकता एवं सामंजस्य न हो, तो वह रंगों की योजना व्यर्थ है। उसकी अपेक्षा केवल पेंसिल या खड़िया मिट्टी से चित्र की रूपरेखा प्रस्तुत कर देना अधिक सार्थक और प्रभावपूर्ण होगा। चित्र में रंगों की स्थिति चरित्र के स्थान पर होती है और रेखाओं की स्थिति वस्तु के स्थान पर। इससे सिद्ध है कि चरित्र की अपेक्षा वस्तु अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

नाटकीय वस्तु अपने में पूर्ण तथा निरपेक्ष होनी चाहिए साथ ही उसका एक समुचित आकार अथवा विस्तार भी आवश्यक है। जिस प्रकार अत्यत छोटी वस्तु अपना सौन्दर्य आँखों के सामने स्पष्ट नहीं कर पाती, तथा अत्यधिक विशाल वस्तु भी अपने सौन्दर्य को सीमा में नहीं बाँध पाती, उसी प्रकार नाटक का कथानक न अत्यन्त छोटा और न अत्यधिक विशाल होना चाहिए। उसका विस्तार हमारी स्मृतिशक्ति के अंतर्गत समा सकने योग्य हो। वस्तु की पूर्णता के लिए उसका आदि, मध्य और अंत निर्धारित

होना चाहिए। आरम्भ उसे कहते हैं जो किसी पूर्ववर्त्ती घटना से कार्य-कारण-संबंध द्वारा मिला नहीं होता, पर जिसके पीछे कार्य-कारण-सम्बन्ध द्वारा घटनाएँ जुड़ी होती हैं। उसके पूर्व में घटनाओं की अपेक्षा नहीं होती, पीछे होती है। मध्य वह है जिसके पूर्व तथा पश्चात् दोनों ओर काय कारण परंपरा से घटनाओं का योग आवश्यक जान पड़ता है। अन्त वह है जिसके पूर्व घटनाओं की शृखला सयुक्त होती है और वह उनका परिणाम प्रतीत होता है, साथ ही उसकी परवर्त्ती किसी घटना की अपेक्षा नहीं रहा करती।

मनुष्य अथवा जीवधारी के किसी भी अंग के न्यूनाधिक होने से उसके सौन्दय में त्रुटि आ जाती है, उसी प्रकार नाटक के सपूर्ण अंगों का विन्यास भी आवश्यक होता है। इसके लिए नाटक की कथावस्तु का समुचित विस्तार अपेक्षित है तथा घटनाओं की शृखला उस विस्तार के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से रक्खी जानी चाहिए। नाटकीय वस्तु का विस्तार ऐसा हो जिसमें सुखात्मक स्थिति से दुःखात्मक और दु.खात्मक से सुखात्मक स्थिति का परिवर्तन संभाव्य बन जाय।

नाटकीय वस्तु में सकलन की आवश्यकता होती है। किसी मनुष्य के जीवन-व्यापी समस्त कार्यों को नाटक में एकत्र कर देना कथावस्तु का संकलन नहीं है। एक चरित्र को लेकर आदि से अन्त तक उसकी जीवनी का दृश्य उपस्थित कर देना संकलित वस्तु का उदाहरण नहीं है। केवल कार्य-कारण-शृखला से जुड़ी हुई घटनाओ को ही नाटकीय वस्तु का आधार वनाया जा सकता है। व्यापार की शृंखला एकरस होनी चाहिए तथा समस्त घटनाएँ उस व्यापार के निर्माण में सहायक हों। नाटक की कथावस्तु जीवनी से भिन्न होती है; वह इतिहास से भी पृथक् है। इतिहास में केवल वास्तविक घटनाओं का समावेश होता है। नाटक मे घटनाओं का सभाव्य रूप ग्रहण किया जाता है। इतिहास व्यक्ति-विशेष अथवा घटना-विशेष के पूरे विवरण को लेकर आगे वढ़ता है, किन्तु नाटक के सकलन मे घटनाओं के ऐसे इतिवृत्त की आवश्यकता नहीं होती। कहा जाता है कि इतिहास में व्यक्ति और स्थान के नामों को छोड़कर और कुछ भी 'सत्य' नहीं होता और काव्य तथा नाटक में व्यक्ति और स्थान के नाम छोड़कर सभी कुछ सत्य (अर्थात् तथ्यपूर्ण और मार्मिक) होता है। काव्य या नाटक की कथावस्तु के निर्माण

में कलाकार की कल्पना कार्य करती है, किन्तु इतिहास-ग्रन्थ के निर्माण में कल्पना का कोई विशेष हाथ नहीं होता।

अरिस्टोटल का मत है कि नाटकीय कथावस्तु में प्रासगिक कथा अथवा अनावश्यक घटना-बाहुल्य की योजना न होनी चाहिए। कथानक का समरस होना आवश्यक है। यदि विभिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न घटनाएँ आकर नाटक में समाहित होना चाहेंगी, तो नाटक बोझीला और प्रभावहीन हो जायगा। उसकी एकाग्रता न रहेगी। कभी-कभी एक-एक पात्र को लेकर नाटककार उससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं को नाटक में स्थान देता है, इस प्रकार अनेक पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी घटनाओं का संग्रह हो जाता है, जिससे वस्तु-सौन्दर्य में स्वभावतः त्रुटि आ जाती है।

नाटकीय वस्तु में कौतूहलवर्धक तथा चमत्कारपूर्ण प्रसगों की अधिक आवश्यकता होती है। अतएव कथावस्तु के भीतर स्थिति परिवर्तन तथा प्रत्यभिज्ञान के दृश्यों को स्थान दिया जाता है। कथानक के प्रवाहक्रम में नवीन घटना-योग द्वारा आकस्मिक परिवर्तन की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु श्रेष्ट नाटककार नियोजित घटना की स्वाभाविकता का ध्यान रखते हैं। उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने देते। इसी प्रकार नवीन अभिज्ञान भी एकदम अप्रत्याशित या अकल्पनीय न होना चाहिए। इसी कारण श्रेष्ठ नाटक की कथावस्तु सीधी लीक पर चलनेवाली न होकर किंचित जटिल तथा विस्मयकारक होती है। कौतूहल उत्पन्न करने के लिए आकस्मिक घटना-योजना का तत्त्व अत्यंत आवश्यक है।

स्थिति परिवर्तन उपस्थित करनेवाली घटना के विषय में भी अरिस्टोटल का मत है कि वह नाटक में करुणा तथा भय के भावों की सृष्टि करनेवाली हो। यह उस अवस्था में सम्भव नहीं है, जब कोई सच्चरित्र व्यक्ति उन्नति से अवनति की ओर जाता दिखाया जाय या किसी दुष्ट को सुख की प्राप्ति हो। किसी नितान्त नीच व्यक्ति का आपत्तियों में पड़ जाना भी करुणा एवं भय का संचार नहीं कर सकता। किसी प्रसिद्ध, उन्नतमना व्यक्ति का किसी आकस्मिक भूल के कारण विषम परिस्थिति में फँस जाना ही इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। दुर्गुणी पात्र में भी यह बात घटित नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त योजना से करुणा अथवा भय की भावना का उदय न हो

सकेगा। पात्र का उदात्तमना होना आवश्यक है, परन्तु वह चरित्र अत्यन्त असाधारण या आदर्श भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस स्थिति में भी करुणा या भय की सृष्टि न होगी।

आकस्मिक प्रभाव-वैषम्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानकर अरिस्टोट्ल ने इसकी विस्तृत विवेचना की है। दुःखान्त नाटक मे स्थिति का यह परिवर्तन दो विरोधी पात्रों के बीच संभव नहीं। जब दो परिचित मित्र सहसा किसी चारित्रिक विपर्यय से इस प्रकार की घटना में नियोजित हो जाते हैं, तभी भय और करुणा की सम्यक् उत्पत्ति होती है। घटना का अनजान में ही घटित हो जाना सवेदना को और भी तीव्र बना देता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने पर महान् पश्चाताप का उदय भी नाटकीय प्रभाव के अनुकूल होगा। दुःखान्त नाटक के लिए सबसे अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति-विपर्यय यही हो सकता है।

अरिस्टोट्ल का कथन है कि व्यक्ति में कुछ गुणों का स्थापन ही चरित्र का सूचक है। चरित्र की श्रेष्ठता उद्देश्य की महानता पर निर्भर है। अपने स्थान पर सभी उद्देश्य महान् हो सकते हैं, इसी कारण चारित्रिक श्रेष्ठता के लिए कोई जातिगत वन्धन नहीं है। औचित्य भी चरित्र के लिए आवश्यक वस्तु है। उचित पात्र में उचित गुण का सन्निवेश किया जाना चाहिए। नारी में पुरुष के गुण तथा पुरुष मे नारी के गुण चित्रित करना औचित्य से परे की वस्तु है। जीवन की अनुरूपता भी स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के लिए आवश्यक है। चरित्रगत विशेषताओं में वैषम्य सकारण तथा सनियम होना चाहिए! अकारण किसी चरित्र का उत्थान या पतन कलापूर्ण नहीं होता। चरित्र-निर्माण पात्र के कार्यों द्वारा होना चाहिए। पात्र के वक्तव्यों द्वारा भी चरित्र-चित्रण संभव है। अभिनय द्वारा भी चरित्र की विशेषता का उद्घाटन हो सकता है, परन्तु यह एक गौण उपक्रम है।

नाटक का अन्य तत्त्व पात्रों के संवादों में व्यक्त होनेवाली देश-काल संबन्धी विचार-धारा है। पात्रों के प्रवचन कुछ अंश तक उनके चरित्र की सूचना देते हैं। परन्तु नाटक के बौद्धिक पक्ष तथा देश-काल की स्थिति का आभास भी उनसे मिलता है। किसी भावना को उत्तेजित करने तथा किसी विषय का निर्देश करने के लिए यह तत्त्व काम में आता है। समस्त संवाद जो

चरित्र- निर्माण में किसी प्रकार का सीधा सहयोग नहीं देता, इसी 'विचार' तत्त्व के अंतर्गत आ जाता है।

अरिस्टोट्ल ने नाटक की भाषा-योजना पर अत्यंत विस्तारपूर्वक लिखा है। सपूर्ण विवेचन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भाषा-योजना असाधारणता-समन्वित तथा स्पष्टता की विधायक होनी चाहिए। वे दोनों विरोधी गुण हैं। प्रायः सामान्य उक्तियाँ स्पष्ट होती हैं और असाधारण शब्द स्पष्ट होते हैं। किन्तु नाटककार की सपूर्ण सफलता इन दोनों विरोधी तत्त्वों का समुचित सामंजस्य स्थापित करने में है। नाटक को साधारण भाषा से ऊँचा उठाकर कला की उच्च भूमि पर उपस्थित करके भी उसमें स्पष्टता की प्राणप्रतिष्ठा कर देना कलाकार की कुशलता का परिचायक है। लाक्षणिक भाषा का प्रयोग तथा रूपक आदि के प्रयोग भी आकर्षक होते हैं, किन्तु शर्त यह है कि वे नाटक की स्पष्टता और बोधगम्यता पर आवरण न डाल दें। नाटक दर्शकों की वस्तु है, यह कलाकार को कभी न भूलना चाहिए। कुछ अप्रचलित शब्द, रूपक, आलंकारिक उक्ति आदि नाटक की भाषा-योजना को असाधारण चमत्कार प्रदान करती हैं; किन्तु सरल और मधुर वाक्यों का प्रयोग ही उसे स्पष्ट बना सकेगा। नाटककार असाधारणता में स्पष्टता तथा स्पष्टता में असाधारणता को सन्निहित कर ही सफलता प्राप्त करता है।

नाटक का पाँचवाँ और अंतिम तत्त्व गीत है। इसके सबन्ध में अरिस्टोट्ल का मुख्य वक्तव्य यह है कि नाटकों के गीत नाटक के अभिन्न अंग होने चाहिए। वे ऊपर से जोड़े हुए नहीं हो सकते। निर्धारित स्थानों पर गीतों का होना आवश्यक है। बिना इसके नाटक की सर्वांगता अपूर्ण ही रहेगी। स्पष्ट है कि अरिस्टोट्ल का यह निर्देश तत्कालीन ग्रीक नाटकों को आधार मान कर ही किया गया। नाटक में गीत की स्थिति और आवश्यकता पर भिन्न-भिन्न समयों में विचार बदलते रहे हैं।

(सन् १९५० ई०)

भारतीय नाटक की रूप-रेखा

संस्कृत साहित्य और विशेषतः संस्कृत नाटकों पर जिन पाश्चात्य विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उनमें ए० बेरीडेल कीथ का नाम विशेष ख्यात है। 'संस्कृत-नाटक' ('Sanskrit Drama') नामक उनका ग्रंथ अत्यधिक प्रामाणिक माना जाता है, और जहाँ कहीं प्राच्य साहित्य की चर्चा होती है, वहाँ संमान के साथ स्मरण किया जाता है। इस ग्रंथ में लेखक ने संस्कृत नाटकों का क्रमबद्ध विवरण दिया है और उनकी साहित्यिक विशेषताओं का विस्तृत विवेचन किया है। कीथ यह मानते हैं कि भारतीय नाटकों का स्वतंत्र विकास हुआ था, उन पर किसी दूसरे राष्ट्र की नाट्यपद्धति की छाप नहीं पड़ी है। यह बात दूसरी है कि कभी किसी संस्कृत नाटककार ने कहीं कोई बात यूनानी नाट्य-कला से ले ली हो, पर इस प्रकार का आदान अनुकृति नहीं कहा जा सकता।

भारतीय नाटक की स्वतंत्र विशेषता को स्वीकार करते हुए भी कीथ उनके प्रशसक नहीं हैं। यूनानी नाटक की तुलना में वे भारतीय नाटक को महत्त्व नहीं देते। उनका कथन है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटकों की भाँति जन-समाज के लिए नहीं लिखे गए। उनका प्रसार जनता मे नहीं हुआ। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के मनोरंजनार्थ उनकी सृष्टि हुई, इसी उच्च-वर्गीय एकातिन्क वातावरण में उनका प्रचलन हुआ। ब्राह्मण जाति आरम्भ से ही आदर्शवादी थी। वस्तु और चरित्र का यथार्थ चित्रण उसकी प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण असभव था। केवल भाव-विशेष की सृष्टि साहित्य और नाटकों का लक्ष्य थी। कथानक का निर्माण इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाता था और प्राय: कोई सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा ही इसके लिए उपयुक्त समझी जाती थी। कथा को ऐसे साँचे में ढाल लेते थे, जिसमें किसी रस-विशेष की सर्वांगीण अनुभूति करायी जा सके।

रसों में भी ब्राह्मण जाति के आदर्शों का बोलबाला था। ब्राह्मणों के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में सुख-दुःख का भागी होता है। अतः भारतीय नाटकों में यूनानी

दु.खान्त नाटकों की भाँति ऐसी शक्तियों और स्थितियों का चित्रण नहीं किया जा सका, जो स्वतंत्र हैं और जिन पर मानव-बुद्धि का कोई वश नहीं। इसी कारण संस्कृत नाटक में किसी सत्पुरुष का भाग्य के दुर्दमनीय चक्र में पड़कर विफलताओं से टक्कर खाना और अंत तक भटकना नहीं दिखाया गया, न उसमें किसी खल पुरुष का अंत तक विजयी होना चित्रित किया गया है।

संस्कृत नाटक सदैव सुखांत रहे हैं। वे ब्राह्मण-विचारों की आदर्शवादी परंपरा पर चलते गये हैं। केवल वीर और शृंगार रस ही की सृष्टि नाटक में होती है, और घटना-चमत्कार की सृष्टि के लिए अद्भुत रस के प्रसंग भी आ सकते हैं। अद्भुत रस की योजना में भारतीय नाटककार वेखटके स्वर्ग और पाताल-लोक के संभव-असंभव दृश्य नाटकों में लाते रहे हैं। अस्वाभाविकता की ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया।

कीथ के कथनानुसार भारतीय नाटक में चरित्र-सृष्टि के लिए भी यथेष्ट स्थान न था। चरित्रों का स्वतंत्र स्वरूप भी नाटक की रसात्मकता में वाधक ही हो सकता था; इसलिए पात्रों का चरित्र-चित्रण भी रसानुयायी ही रहा है। रावण का चरित्र एक दंभी और मूर्ख व्यक्ति का सा प्रायः सभी नाटककारों ने अंकित किया है। राम के महान् चरित्र के समीप वह किसी भी अवस्था में नहीं पहुँचता। सघर्ष की यथार्थता की अनुभूति कराने में संस्कृत नाटककार इसीलिए असफल रहे हैं। आदर्शवादी प्रकृति और रस-सृष्टि के लक्ष्य के कारण यह गड़वड़ी हुई है।

नाटक की शैली पर महाकाव्य की शैली का प्रभाव वरावर वना रहा—यही नहीं, प्रगीतात्मक मुक्तक पद्य, प्रकृति वर्णन और कथात्मक प्रकरण (Narration) भी भारतीय नाटकों में भरे हुए हैं। ये तीनों ही वस्तुएँ नाटकीयता के अनुकूल नहीं पड़तीं, किन्तु रसोद्रेक के लिए इनका उपयोग किया गया है। इसी प्रकार नृत्य, गान, वाद्य और अभिनय का प्रयोग भी रस-सृष्टि के ही लिए हुआ है

'नाटक' में तो राजपरिवार और उच्चवर्गीय समाज के चित्रण का प्रतिवंध था ही, 'नाटिका' में भी सामान्य जीवन की वास्तविकता चित्रित न हो सकी। यद्यपि 'नाटिका' में और उससे भी अधिक 'प्रकरण' में मध्य

वर्गीय समाज के चित्रण का अवकाश रहा है, पर वह चित्रण भी रूढ़ि के आधार पर ही हुआ। रतिस्थायी-भाव के परम्पराप्राप्त प्रदर्शन के लिए भवभूति ने 'मालती माधव' नामक प्रकरण—रूपक लिखा। 'प्रहसन' और 'भाण' नामक रूपक हास्य रस की सृष्टि के लिए थे—वह भी एक बंधी हुई लीक पर।

कीथ साहब ने भारतीय नाटक में ये मूलभूत दोष गिनाने के पश्चात् भारतीय नाटक की भाषा पर आपत्ति की है। आपका मत है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के जो स्वरूप नाटकों में मिलते हैं, वे जन-भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा-स्वरूप को समझना जनता के लिए असंभव था। केवल अल्पसंख्यक उच्च-पदस्थ वर्ग ही उस भाषा को समझ सकता था, और उसी के लिए वे नाटक रचे भी गये थे। इस प्रकार संस्कृत नाटक केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग-विशेष की कलाभिरुचि और हास्य एवं मनोविनोद के विषय रहे हैं। उसका संबंध सामान्य भारतीय समाज से नहीं था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में राजाश्रित समाज और दरबारी कवियों का जो स्वरूप दिखाया गया है, संस्कृत का नाटककार उसी श्रेणी का व्यक्ति था। वह सामान्य जनता और उसके जीवन के सम्पर्क में न कभी रहा और न कभी उस ओर उसका ध्यान ही गया।

ये आरोप कीथ साहब ने संस्कृत नाटकमात्र पर किये हैं, इसलिए इन आरोपों से न तो कालिदास बचे हैं और न उनकी कोई नाट्यकृति। अवश्य संस्कृत के अन्य नाटककारों की तुलना में कीथ ने कालिदास की श्रेष्ठता स्वीकार की है। उसने लिखा है कि कालिदास प्रसाद गुण-संपन्न वैदर्भी शैली के प्रधान नाटककार हैं। भास और मृच्छकटिककार शूद्रक की ही भाँति सरल भाषा का प्रयोग करते हुए भी कालिदास उक्त दोनों लेखकों से कहीं अधिक आकर्षक और परिष्कृत शैली मे नाटक लिख सके। अश्वघोष से वे प्रभावित हुए थे; किन्तु उनकी सुरुचि और परिमार्जना उनकी अपनी वस्तु है। अश्वघोष में वह बात नहीं। परवर्त्ती लेखकों की कृत्रिम आलंकारिकता का भद्दा प्रदर्शन कालिदास में नाम को भी नहीं है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पञ्चम अंक में तो वे संस्कृत नाटककारों की वस्तु-वर्णनात्मक काव्यशैली को छोड़कर विशुद्ध नाट्य-व्यापार की ही योजना करने में सफल हुए हैं।

कालिदास में व्यञ्जना-पद्धति का बड़ा सुन्दर स्वरूप विकसित हुआ। भवभूति जिसका वर्णन करने में श्लोक के श्लोक लगा देते हैं, कालिदास उसे एक छोटे-से आधे वाक्य में पूरा कर देते हैं। भाषा के प्रयोग में भी कालिदास की सूक्ष्मदर्शिता प्रकट हो जाती है। सिपाही की भाषा, मछुए की भाषा, स्त्रियों की भाषा—सबके सूक्ष्म भेदों की ओर उनकी पैनी दृष्टि गई थी। भवभूति की भाषा में यह बारीकी नहीं मिलती।

शृंगार रस की उद्भावना में कालिदास अद्वितीय हैं। किशोर-हृदय में रति की स्थापना से लेकर उसके विकास और परिपाक की समस्त अवस्थाओं का चित्रण करने में वे सिद्धहस्त हैं। वियोग-शृंगार और करुण-रस की कोमल भावना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में जैसी प्रस्फुटित हुई है, वह अपने ढंग की अनुपम है। शकुन्तला के कण्व के आश्रम से विदा होते समय का यह दृश्य है। वृक्ष और लता-गुल्म भी शकुन्तला के वियोग से विक्षुब्ध दिखाये गये हैं। कालिदास में प्रकृतिचित्रण भी उच्च कोटि का पाया जाता है। हास्य रस की योजना में भी कालिदास कहीं भद्दापन नहीं आने देते। नृत्य और संगीत कलाओं के भी वे ज्ञाता थे।

कालिदास के नाटकों में कीथ ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उनके दो अन्य नाटक 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' कला की दृष्टि से 'शाकुन्तल' की बराबरी नहीं कर सकते। कीथ ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की श्रेष्ठता दिखाते हुए लिखा है कि महाभारत की मूल कथा तो बहुत ही सीधी-सादी है। उसे कालिदास ने अपने नाटक में रूपों-रंगों से सुसज्जित कर दिया है। महाभारत की कथा इस प्रकार है कि शकुन्तला के आश्रम में दुष्यन्त आये। कुमारी शकुन्तला अपने उच्च वंश का वर्णन दुष्यन्त से करती है। दुष्यन्त विवाह का प्रस्ताव करते हैं। शकुन्तला चतुर नारी की भाँति यह वचन उनसे उसी समय ले लेती है कि उसीका लड़का राज्याधिकारी होगा। दुष्यन्त इसे स्वीकार करते हैं और शकुन्तला से मिलकर अपनी राजधानी वापस जाते हैं। शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न होता है। कुछ काल पश्चात् माता और पुत्र दुष्यन्त के यहाँ उपस्थित होते हैं। साथ में आश्रम के साधु भी हैं। राजा दुष्यन्त राजनीतिज्ञता का परिचय देते हैं—शकुन्तला को पहचान कर भी नहीं पहचानते। शकुन्तला कठोर अभिशाप की धमकी और अपने उच्च कुल को बार-बार

दुहाई देती है। अंत में आकाशवाणी होती है कि शकुन्तला दुष्यन्त की परिणीता पत्नी है और उसका पुत्र राज्याधिकारी है। यही दुष्यन्त को अभीष्ट था। वे अपनी पत्नी और पुत्र को ग्रहण करते हैं—यह कहते हुए कि आकाशवाणी की ही वे प्रतीक्षा कर रहे थे, अब शकुन्तला के पुत्र को युवराजपद देने में कोई आपत्ति न हो सकेगी।

कहाँ यह मोटी कथा और कहाँ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में उसका सँवारा हुआ अनुपम स्वरूप! नाटक की लज्जावती नायिका अपने उच्च कुल का निर्देश करने में भी हिचकती है। उसकी सखियाँ तक स्पष्ट नहीं कह सकतीं। नवोढा शकुन्तला का नवोदित प्रेम अनुपम क्षमता के साथ चित्रित किया गया है। दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानने की मोटी कथा महाभारत में आई है, उसे सुन्दर और सार्थक बनाने के लिए कालिदास ने दुर्वाशा के शाप की योजना की है। और शाप भी अकारण नहीं है, शकुन्तला के प्रेमोन्माद का फल है—कर्त्तव्य की सूचना का स्थायी स्मारक है। अस्वीकृति के समय नाटक में शकुन्तला का व्यवहार अत्यन्त शिष्ट और प्रसगानुकूल है। नारी और वनवासिनी नारी के लिए सर्वथा समीचीन है। दुष्यन्त का चरित्र सदोष नहीं है; अतः उसे अन्त में शकुन्तला, उसकी परिणीता भार्या मिलनी चाहिए। इसीलिए शाप की रक्षा भी हुई और अन्त में अँगूठी मिल जाने पर अभिज्ञान भी हुआ। यहाँ से अन्त तक का दृश्य पवित्र प्रेम की तपोमयी ज्योति से ज्योतित है— न केवल दुष्यन्त के पक्ष में, शकुन्तला के पक्ष में भी। और अन्तिम मिलन नारी और पुरुष का—सुन्दर वीर बालक उपहार के साथ—स्वर्गीय अनुपमता लिए हुए है।

केवल कथा में तथा नायक-नायिका के चित्रण में ही विशेषता नहीं है। कालिदास की कला नाटक के अन्य पात्रों की सृष्टि में भी देखी जाती है। कण्व का चित्रण दुर्वाशा के विपरीत, एक सरल सन्तानहीन साधु का वात्सल्यमय स्वरूप दिखाता है। इसी प्रकार मारीच के चित्रण में भी कवि की सुन्दर कला प्रदर्शित हुई है। शकुन्तला की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा कवि की कोमल लेखनी की उपज हैं—अनसूया अनुभूति प्रवीण और गंभीर है, प्रियंवदा मिष्टभाषिणी और हसमुख। इसी प्रकार शारंगरव और शारद्वत के चित्रणों में भी संन्यासी स्वभाव की दो पृथक्-पृथक् विशेषताएँ परिलक्षित हुई हैं।

अद्भुत रस की योजना के लिए अलौकिक दृश्य 'विक्रमोर्वशीय' की भाँति सीमा के बाहर नहीं गये। केवल एक स्थान पर नाटक के अन्त में स्वर्ग में शकुन्तला का आश्रम दिखाया गया है। प्रतीकात्मक दृष्टि से भी शकुन्तला और दुष्यन्त का यह स्वर्गीय मिलन अत्यन्त स्वाभाविक है। अँगूठी के खोने और फिर से मिल जाने की योजना भी कथा-सूत्र में सुन्दर विधि से गुम्फित हुई है। किसी अंश में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती।

किन्तु, इतनी प्रशंसा कर चुकने के पश्चात्, कीथ साहब को सहसा यूनानी नाटक फिर याद आ गये और वे एक बार फिर भारतीय नाटकों पर विरक्त हो उठे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की मृदुल कल्पना और रचना भी उनका परितोष न कर सकी। पश्चिम को पूर्व से श्रेष्ठता दिये बिना कैसे काम चलता! फलतः बहुत कुछ अप्रासंगिक रूप में और ऊपर की प्रशंसा से किसी प्रकार मेल न खानेवाली बातें कीथ साहब के मुँह से निकल पड़ीं। वे कहते हैं:—

"कालिदास की रचना अत्यन्त प्रशंसनीय है; किन्तु इस तथ्य को भुला देना अनुचित होगा कि उनके नाटकों में तथा काव्यों में जीवन और भाग्य की महान् समस्याएँ उपस्थित नहीं हुईं। जर्मनी के महाकवि गेटे ने कालि-दास के सम्बन्ध में प्रशंसा के जो महान् शब्द लिखे हैं और अँग्रेजों में भी सर विलियम जॉन्स ने कालिदास की जो तुलना शेक्सपियर से की है, वे ठीक हैं; किन्तु अपने समय की ब्राह्मण-जातीय विशेषताओं के अनुयायी होने के कारण कालिदास की रचना में जो अनिवार्य संकीर्णता आ गयी है, उसकी ओर से हम अपनी आँखें नहीं मूँद सकते। कालिदास को यह विश्वास था कि एक न्यायकारिणी अदृष्ट सत्ता का अस्तित्व है, जो सृष्टि पर शासन करती है। अतः वह संसार के दुःखों और वैषम्यों से भरे भयावह स्वरूप को नहीं देख पाया, बहुसंख्यक मनुष्यों की आर्त्त जीवनी के प्रति सहानुभूति से प्रेरित न हो सका और संसार में फैले हुए व्यापक अन्याय की ओर दृष्टि न दौड़ा सका। वह अपनी ब्राह्मण-दार्शनिकता के संकुचित दायरे से ऊपर न उठ पाया। फिर भी हम कृतज्ञ हैं (किसके?) कि सिद्धान्तों से अवरुद्ध होते हुए भी कालिदास ने 'शकुन्तला' जैसी स्थायी गुणोंवाली और लोकव्यापी

प्रभावशाली रचना प्रस्तुत की, जो निष्प्रभ अनुवादों में भी संसार द्वारा एक महान् कलाकृति स्वीकार की जा चुकी है।"

ये पंक्तियाँ अपनी कथा आप ही कहती हैं। कीथ का हृदय 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से अभिभूत है; फिर भी उसकी लेखनी जो कुछ लिख जाती है, उसका उत्तरदायित्व किस पर है ? उसका उत्तरदायित्व है पूर्व और पश्चिम के बीच नीच-ऊँच का कृत्रिम भेद करनेवाली साम्राज्यवादी मनोवृत्ति पर। दूसरे क्षेत्रों से यह मनोवृत्ति चाहे जब हटे, साहित्य-क्षेत्र से इसका शीघ्र से शीघ्र दूर होना अत्यावश्यक है। जब तक यह मनोवृत्ति है, तब तक कीथ जैसे विद्वानों की लेखनी भी परस्पर-विरोधी तथ्यों का निरूपण करने को बाध्य रहेगी। विद्या के क्षेत्र में यह बात शोभनीय नहीं है।

संस्कृत नाटकों के स्वरूप पर कीथ का जो मत ऊपर उद्धृत है, वह उसके पांडित्य का परिचायक है; किन्तु भारतीय नाटकों के इस स्वतंत्र स्वरूप में जो विशेषताएँ हैं, उनकी ओर कीथ की निगाह नहीं गई और न तब तक जा सकती है जब तक यह वैषम्य बना है। पाश्चात्य और प्राच्य नाटक के इस स्वतन्त्र-स्वरूप में भेद होते हुए भी दोनों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ भी हैं। कीथ की दृष्टि केवल त्रुटियो पर गयी है, किन्तु उसने पाश्चात्य नाटक और विशेषतः यूनानी नाटक की स्थूल संघर्ष में टिकनेवाली भावना में कोई त्रुटि नहीं देखी। पाश्चात्य विद्वानों के ही प्रामाणिक ग्रन्थों में यूनानी नाटक की इस स्थूलता का (Force against force) की मूल भित्ति का उल्लेख किया गया है। यदि एक में एक प्रकार की त्रुटियाँ हैं, तो दूसरे में दूसरे प्रकार की। किन्तु, सच पूछिए तो यह बहुत कुछ पूर्व और पश्चिम की अपनी-अपनी प्रकृति है। एक दूसरे के दोष-दर्शन की अपेक्षा यदि तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों के गुणों और विशेषताओं का अनुशीलन किया जाय, तो साहित्य का ही नहीं, मनुष्यता और मानव संस्कृति का कहीं अधिक कल्याण हो सकता है।

यहाँ संक्षेप में हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि कीथ साहब ने संस्कृत नाटकों की जो त्रुटियाँ प्रदर्शित की हैं, उनमें अतिरंजना अधिक है और तथ्य को जानने का प्रयत्न कम। सस्कृत और भारतीय नाटकों का सुखान्त होना भारतीयों की काल्पनिक दृष्टि का परिणाम है, जो जीवन के कठोर यथार्थ

और वास्तविकता से अपरिचित रही है, कीथ का यह कथन भारतीय नाटक के लिए अन्यायपूर्ण है। भारतीय नाटक सुखात्मक और दु:खात्मक दृश्यों के प्रदर्शन में समान अभिरुचि और सामर्थ्य रखता है। स्वयं भारतीय नाटक इसके प्रमाण हैं। भारतीय नाटक दुःखान्त नहीं होते, इसका यह अर्थ नहीं कि दुःख, करुणा या जीवन की कुरूप वास्तविकता से वे अपरिचित होते हैं। वास्तव में संस्कृत नाटक करुणा, संवेदना और जीवन-संघर्ष की भावना से भरे हुए हैं। नाटक की परिसमाप्ति सुख में होने का अर्थ इतना ही है कि भारतीय नाटक अपने दर्शकों की भावना का ध्यान रखता है और उन्हें प्रेक्षागृह से प्रसन्नतापूर्वक और खुशी-खुशी घर भेजने का शिष्टाचार वरतता है। यह भारतीय नाटक की एक विधि, व्यवस्था या शैली-मात्र है। इसका इससे अधिक अर्थ लेना अप्रासंगिक और अनुचित है।

भारतीय नाटकों की यह सुखान्त व्यवस्था नाटक पर भारतीय दर्शनों के शासन या अधिकार की परिचायक है, यह कहना भी वास्तविकता से दूर जाना है। भारतीय दर्शन परलोक और पुनर्जन्म को मानते हैं, पर वे यह कहीं नहीं कहते कि इस संसार में भले का परिणाम सदैव भला ही होता है। संसार की कठोर और कटु वास्तविकताओं और अनर्थों की स्वीकृति ही भारतीय दार्शनिकों को पुनर्जन्म का विश्वास कराती है। ऐसी अवस्था में भारतीय दार्शनिकता दुःखान्त नाट्य सृष्टि का विरोध क्यों करेगी? यह बात कहीं सुनने में नहीं आई कि भारतीय दर्शन सुख की काल्पनिक प्रतिष्ठा के लिए सत्य की अवहेलना करते हैं। सच तो यह है कि भारतीय दर्शन सुख और दुःख दोनों को एक ही श्रेणी की वस्तु मानते हैं और उनमें कोई तात्विक अंतर नहीं देखते। ऐसी अवस्था में वे सुखान्त या दुःखान्त नाटकों की सृष्टि में कोई अनावश्यक विरोध क्यों देखने लगे? इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह भी है कि काव्य और साहित्य के सम्बन्ध में भारतीयों की यह सदा से धारणा रही है कि वह आदर्शात्मक वस्तु है, केवल जीवन की साधारण वास्तविकता की अनुकृति नहीं है। यह आदर्शवादी धारणा और दृष्टिकोण ही भारतीय नाटकों को कुरूप और भोंड़े यथार्थ के स्थान पर ऊँची भावनात्मक और आदर्शात्मक प्रेरणा देता रहा है। परन्तु यह आदर्शात्मकता इस हद तक कभी नहीं गई कि वह मानव-जीवन की वास्तविकता और उसके अनिवार्य संघर्षों और दु:खों की अवहेलना करे। जीवन

के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष भारतीय नाटककारों की दृष्टि में सदैव रहे हैं।

भारतीय नाटककार 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस को अलौकिक आनन्द स्वरूप कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि रस के आग्रह से नाटक में केवल सुखात्मक दृश्य ही दिखाए जा सकते हैं। ऐसा समझना रस के तत्त्व और स्वरूप से अनभिज्ञता सूचित करना है। 'रस' तो काव्यानुभूति का दूसरा नाम है, वह अनुभूति सुखात्मक दृश्यों पर अवलंबित रह सकती है और दुःखात्मक दृश्यों पर भी। रस का सम्बन्ध काव्यानुभूति और काव्यकला से है। जीवन के किसी क्षेत्र की सीमा बाँधना और उसे काव्य के लिए वर्जित या बहिष्कृत करना 'रस' के विधायकों का काम नहीं है। 'रस' की सत्ता किसी नीतिवाद पर भी प्रतिष्ठित नहीं, जिसमें जीवन के सत् और असत् दो स्थूल पक्ष हो जाते हैं और रस का आस्वाद सत् पक्ष या नैतिकता पर आश्रित हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह निर्देश कि 'राम' के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं, कदाचित् ऐसे ही नीतिवाद पर आश्रित है। परन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों की 'रस'-धारणा इतनी सीमित और स्थूल नहीं थी। ध्वनि-सिद्धान्त के आग्रह से काव्यमात्र में 'रस' की सत्ता सिद्ध होती है। काव्य में राम और रावण, सत् और असत् सुख और दुःख, सभी कल्पना और अनुभूति के विषय बनकर आते हैं—अतएव वे सभी काव्य-जगत् में आस्वाद्य हैं। रस सिद्धान्त की यह व्यापकता कीथ साहब की तत्सम्बन्धी धारणा से एकदम विपरीत पड़ती है। उनका मत है कि 'रस' भारतीय दार्शनिक मतवाद का अनुचर है, पर हमारी दृष्टि में रस, अतिशय स्वतंत्र, सार्वजनिक तथा अव्याहत काव्यतत्व है।

भारतीय नाटकों के चरित्र-चित्रण और वस्तुविन्यास-संबंधी कीथ साहब के आक्षेपों के उत्तर में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को अपना मुख्य तत्त्व मानता है, चरित्र निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु है, और वस्तु-विन्यास और भी ऊपरी तथ्य है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्व प्रमुख तत्त्व मानता है और चरित्र-चित्रण को दूसरा स्थान देता है (यद्यपि इन दोनों की प्रमुखता के प्रश्न को लेकर भी वहाँ पर्याप्त मतभेद है)।

रसात्मक आस्वाद या सौन्दर्य-वोध को पश्चिमी नाटक वहुत दिनों तक स्वतत्र तत्त्व मानते ही न थे। इसका कारण यह है कि काव्य की रसात्मक या सौन्दर्य-विधायिनी सत्ता की स्वतत्र प्रतीति पश्चिम में वहुत वाद को हुई और काव्यानुभूति एक विशिष्ट आध्यात्मिक तथ्य है, यह निर्णय तो और भी नया है। भले ही अरिस्टोटल ने 'कला' के रूप में एक स्वतंत्र वस्तु-व्यापार का निर्देश किया हो, पर उस कला-वस्तु का तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसकी जानकारी यूरोप में वहुत वाद को हुई। भारत में 'रस'-सिद्धात की स्थापना द्वारा काव्य के आनन्दात्मक (सौन्दर्य-मूलक) स्वरूप की अभिज्ञता वहुत पहले हो चुकी थी। इसीलिए भारतीय नाटककार रस को नाटक की आत्मा मानकर अन्य तत्त्वों को उसका अनुवर्ती साधक या सहायक मानते रहे हैं।

आज भी भारतीय नाट्य-धारणा ही अधिक तात्त्विक और तथ्यपूर्ण कही जा सकती है। नाटक में चरित्र-चित्रण और स्वभावनिरूपण अंतत: साधन ही हैं, साध्य नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य को सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तु चित्र मात्र है। वह काव्योपयोगी तभी होगा जव कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अंग वनकर आवे, काव्य में अतर्भुक्त हो जाय। मानवप्रकृति की यथार्थवादी खोज अततः विज्ञान का विषय है। पश्चिमी विचारक भले ही उसे काव्य के लिए सव कुछ मान लें, परन्तु वह सारी मार्मिकता और वैज्ञानिकता कवि-कल्पना का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है, इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना ही होगा। वस्तु या घटनाओं की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता के सवन्ध में भी यह जान लेना चाहिये कि देवताओं और स्वर्ग आदि का नाटक में अवतरण उतना अस्वाभाविक नहीं जितना समझा जाता है। आखिर देवतागण रंगमच के अंतर्गत मनुष्य रूप में आते थे, और मानवीय वृत्तियों का ही प्रदर्शन करते थे। स्वर्गलोक भी रगमच के ही भीतर सजाया जाता था। साधारण मनुष्यों से वे कुछ अधिक सौम्य रूप में उपस्थित किए जाते थे और स्वर्ग भी मनोरम भू-खंड का ही स्वरूप ग्रहण करता था। अतएव देवता और स्वर्ग के नामों से ही अस्वाभाविकता की कल्पना कर लेना उचित नहीं। नाटक में नाट्य वस्तु की कल्पना और उसकी अवतारणा किस रूप में

की गई हैं, यह प्रश्न प्रमुख है। नाटक की वस्तु का ऊपरी रूपरेखा की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक ग्रहण कैसा हुआ है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तु के नाम, रूप और उसके ऊपरी स्वरूप के आधार पर कुछ निर्णय करना जड़ मशीन को चेतन मनुष्य से बढ़कर मानने के समान अज्ञतापूर्ण है। अंत में यही सिद्ध होता है कि कविकल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है, और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बंधन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूप-रेखा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्त्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है।

वर्तमान युग विज्ञान और यथार्थवाद का है। काव्य और नाटक की शैलियाँ विज्ञान और यथार्थ का आधार ले रही हैं। रंगमंच पर अनेक ऐसी वस्तुओं और पदार्थों का प्रदर्शन किया जा रहा है, जो पूर्व काल मे सम्भव नहीं था। कला में यथार्थवादिता और वास्तविकता का प्रभाव बढ़ रहा है। ऐसी अवस्था में भारतीय नाटकों का प्राचीन विधान आज के समीक्षक को कल्पना-प्रधान और अवास्तविक प्रतीत हो, यह असभव या अस्वाभाविक नहीं। भारतीय नाटक आज समय के अनुसार अपना स्वरूप परिवर्तन भी कर रहा है।

रंगमच की दृष्टि से भी भारतीय नाटक को पश्चिम से बहुत कुछ सीखना और बहुत कुछ ग्रहण करना है। समय की दौड़ में हम जितना पिछड़ चुके हैं, उसकी पूर्ति तो हमें करनी ही होगी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन परम्परा को बेकार मानकर उसे एक किनारे रख दे। उसका उचित उपयोग हम करेंगे। जहाँ तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है, भारतीय आचार्यों का नाटक-सम्बन्धी सैद्धातिक विवेचन अनेक अंशों में मान्य और प्रामाणिक है। हमें अपनी प्राचीन पम्परा की पूरी जानकारी होनी चाहिए। तभी हमें उसका समुचित गर्व और गौरव होगा।

नाटकों में संस्कृत भाषा और प्रगीतों के प्रयोग पर भी कीथ साहब ने आक्षेप किया है। भाषा के सम्बन्ध मे कोई क्या कह सकता है। उस समय सभ्य समाज की वही भाषा थी। साधारण जनता संस्कृत नाटकों का

उपयोग नहीं कर सकी, यह हमारा दुर्भाग्य रहा है। परन्तु यह तो एक अनिवार्य स्थिति थी। ग्रीक और लैटिन भाषाओं का साहित्य भी प्राचीन यूरोप में कितने लोगों द्वारा समझा जाता था? प्राकृत और अपभ्रंश के प्रयोगों को सस्कृत के साथ जोड़कर भारतीय नाटककारों ने फिर भी सामान्य जनता के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया था। क्या ग्रीक और लैटिन नाटककारों ने इतना भी किया?

नाटक में प्रगीत काव्य का संनिवेश कोई बुरी वस्तु नहीं है। प्राचीन नाटक प्रायः भावपूर्ण और काव्यात्मक होते थे। उनमें प्रगीत मुक्तक बड़ी स्वाभाविकता के साथ और प्रभाववृद्धि के उद्देश्य से जुड़े रहते थे। नाटक की कथावस्तु का उनसे कोई विरोध नहीं था। भारतीय नाटक नाट्य व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष में उतने न थे। वे नाटक में रमना जानते थे, घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।

(सन् १९५० ई०)

'प्रसाद' के नाटक

(सामान्य विशेषताएँ)

'प्रसाद' के नाटकों को हम ऐसी श्रेणी में नहीं रख सकते जो स्वतंत्र नाटकों की श्रेणी कहला सके, अर्थात् जिसमें पात्र, घटना तथा वस्तु का विन्यास पूर्णतः स्वाधीन रूप में किया गया हो। शेक्सपियर के नाटकों अथवा उसकी 'ट्रेजिडी' के पात्र यदि ऐतिहासिक हैं, तो भी गौणरूप में। किन्तु प्रसादजी ने कुछ पूर्व निश्चित घटनाओं या कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर अपनी नाट्य-रचनाएँ की हैं।

कला यदि मानव-कल्पना का परिणाम है तो स्वतंत्र कल्पना में जो इतिहास-संबंधी या अन्य प्रतिबंध लगेंगे, वे बाधा ही उपस्थित करेंगे।

प्रसादजी के नाटक ऐतिहासिक कोटि के भीतर आते हैं, वे कल्पना-प्रधान नाटकों की कोटि से भिन्न हैं। प्रसाद के नाटक काल्पनिक और स्वतंत्र नहीं, वे ऐतिहासिक और सास्कृतिक हैं। केवल 'एक घूँट' और 'कामना' नाटकों में प्रसादजी ने इतिहास का कोई प्रतिबंध नहीं रखा, उनके पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं। किन्तु बंधन वहाँ भी है—'कामना' और 'एक घूँट' प्रतीकात्मक नाटक हैं। उनमें मानव-वृत्तियों का वह संघर्ष नहीं है जो स्वतंत्र नाटक में हो सकता है।

यही कारण है कि प्रसाद के नाटक आलंकारिक कोटि मे ही परिगणित होंगे। ऐतिहासिक नाटककार विशुद्ध नाट्य-रचयिता की कोटि मे नहीं आ सकता। वह ऐतिहासिक पात्रों को ऐतिहासिक घटनाओं के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता है। उसे अतीत की घटनाओं का अनुवर्तन करना पड़ता है। जिस निर्माण में पूर्ण स्वतंत्रता न हो, वह अवश्य ही एक प्रतिबंध के रूप में उपस्थित होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास का बंधन स्वीकार करते हुए भी ऐसे पात्रों और चरित्रों की योजना की है, जो ऐतिहासिक नहीं हैं। नाटकों में ऐतिहासिक घटनावली के अतिरिक्त जो अनुरंजकता आई है, वह बहुत कुछ इसी स्वतंत्र कल्पना का परिणाम है। प्रसाद ने ऐतिहासिक

घटनाक्रम का बोझ स्वीकार करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व- संपन्न बनाया है। उनके सभी पात्र अपनी विशेषता रखते हैं। नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्थापन या चरित्र-निरूपण का प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है, जो हिन्दी के नाटककारों में प्रसाद जी का स्वतत्र स्थान निर्धारित करती है।

ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन संपूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का भी उन्होंने निर्माण किया है। वहाँ भी युग की वस्तु से भिन्न कोई वस्तु वे नहीं लाए हैं। उनके नाटकों में इसी कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है।

उन्होंने ऐसे चरित्र रचे हैं जो ऐतिहासिक परिस्थिति को चित्रित कर सकें और साथ ही जिनमें नाटकीय चरित्र बनने की क्षमता है। उन्होंने काल्पनिक पात्रों का ऐतिहासिक पात्रों से योग किया है। प्रसादजी कवि थे, इसलिए वस्तुविन्यास उनकी विशेषता नहीं है। चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। व्यक्ति के चित्रों के अंकन में उन्हें अधिक सफलता मिली है। चरित्र-निर्माण-संबंधी उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सभी पात्रों में अलग व्यक्तित्व-योजना का ध्यान रखा है।

देश और काल का चित्रण करने में प्रसादजी ने पात्रों का प्रयोग किया है। तत्कालीन युगों की सामाजिक और सांस्कृतिक विकास-धाराओं का चित्रण प्रसादजी ने किया है। यही कारण है कि उनके नाटक पात्र-बहुल हैं।

उनके सभी नाटक सांस्कृतिक हैं, वे देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। उनमें केवल यथातथ्य चित्रण नहीं है, वे केवल इतिहास का चित्रण करने वाले नाटक नहीं हैं, उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें वर्तमान और भविष्य की छाया विद्यमान है। कोरे ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह कार्य सम्भव नहीं होता। प्रसाद में चरित्र-निर्माण द्वारा भविष्य में भी उनकी छाया फेंकने का सामर्थ्य था। उनके पात्र मृत अतीत के निर्देशक नहीं हैं, वर्तमान के लिए भी वे सन्देश लिए हैं।

नाटक में एक ही मुख्य घटना-प्रवाह रहता है। यदि नाटक दु:खान्त है, तो दुःखान्त घटना का लक्ष्य बनाकर नाटक रचा जायगा। इसी प्रकार

सुखान्त नाटक का लक्ष्य भी सुखान्त घटना की योजना करना होता है। नाटक एक ही मूल घटना में केन्द्रित होगा, नाटक का आरंभ और चरम विकास एक ही सूत्र में बँधा होना चाहिए। यह तभी संभव है, जब लेखक सर्वथा ऐतिहासिक बंधनों में न बँधा हो; उसमें निर्माण की स्वतंत्रता के लिए स्थान हो।

प्रसादजी का आदर्श स्वतंत्र नाटकीय कृति प्रस्तुत करने का नहीं है। जीवन के मर्म को लेकर जो कुछ उन्हें कहना था, वह उन्होंने अपनी कविता में यथास्थान कहा है। इनके नाटक इतिहास को चित्रित करने के लिए हैं ऐतिहासिक नाटकों के प्रतिबंधों को ध्यान में रखकर प्रसादजी को नाटक लिखने पड़े हैं।

अभिनय की विशेषताओं से भी नाटकों की सृष्टि बँधी होती है। नाटक-कार को रंगमंच की सुविधा के अनुसार चलना पड़ता है। रंगमंच का क्रमश. विकास होता चला आया है। इसी के अनुसार नाटकीय कला भी परिवर्तित होती चली गई है। नाटक को दर्शकों को यथार्थता का आभास देना है, नाटक इसी मुख्य लक्ष्य को ध्यान में रखकर सामने आते हैं। वास्तविकता की ओर नाटक बढ़ता है। आज का साहित्यिक नाटक जीवन का यथार्थ चित्र होता है, उसके अभिनय में कोई ऐसी बात नहीं होती जिससे मालूम पड़े कि वह अभिनय है। यथार्थ का बोध करने वाली वस्तु-योजना ही नाटक में स्थान पा सकती है। परन्तु प्रसादजी के नाटक यथार्थ-वाद की इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते।

परन्तु साथ ही यदि हम ढाई-हजार वर्ष पूर्व भारत के नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रसादजी के नाटकों की व्याख्या करने लगेंगे, तो भी समय के अनिवार्य प्रवाह की उपेक्षा करनी होगी। प्रसादजी ने ध्यान रखा है कि उनके नाटक आधुनिक युग और आधुनिक रंगमंच के अनुकूल हों। यदि उनके नाटक नई नाट्यशैली का पूरी तरह अनुवर्तन नहीं करते, तो वे पुराने नाट्य-प्रकार के अनुकरण से भी दूर हैं।

इनके नाटकों का कोई एक लक्ष्य या केन्द्र नहीं रहता जिस पर सारी घटनाएँ केन्द्रित हों। ये Biographical अथवा जीवनी-प्रधान नाटक हैं और प्रत्येक नाटक में एक व्यक्ति के ही नहीं, परन्तु अनेक व्यक्तियों की

जीवन-घटनाएँ हैं। इन नाटकों की घटनाएँ उपन्यास का अच्छा विषय बन सकती थीं।

ऐतिहासिक नाटकों के दो प्रतिबंध होते हैं—प्रथम कला-सम्बन्धी और दूसरा इतिहास-सम्बन्धी। यदि कोई नाटककार इन दोनों का सामंजस्य स्थापित कर सकता है, तो वह पूर्णतः सफल ऐतिहासिक नाटककार होगा। नाटकों में व्यापार-संकलन प्रधान कार्य है। ऐतिहासिक नाटकों में समय, स्थान और कार्य-सकलन का बराबर ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु प्रसादजी के नाटकों में सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। उनके नाटकों में औपन्यासिक गुण अधिक हैं। उपन्यासों का मुख्य कार्य अनेक चरित्रों का वर्णन करना है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार पर समय की परिधि का उतना प्रतिबंध नहीं रहता। नाटक में अनेक स्थान होने से प्रभाव बिखर जाता है। अतः स्थान और घटनाओं का केन्द्रीकरण करने में भी इस प्रकार से पूर्ण सफलता मिलनी कठिन होती है।

प्रसादजी के नाटकों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे दुःखान्त घटना को अपने नाटकों में स्थान नहीं देते। इसका कारण यह है कि भारतीय नाट्य-परंपरा को वे तोड़ नहीं सके। स्कदगुप्त का सारा उपक्रम विफलता की ओर दौड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। स्कंदगुप्त के मार्ग में कठिनाइयाँ इतनी विराट् हैं कि स्कदगुप्त का चरित्र इन विरोधी परिस्थितियों के समकक्ष खड़ा होकर हमारा दयापात्र बन जाता है। सदैव कठिनाई ही उसके सामने दीखती है और उसकी विजय की आशा नहीं रह जाती। अंतिम अंक में स्कन्द की समस्त आशाओं पर पानी फिर चुका है और उसका समस्त प्रयास विफलता में परिणत हो चुका है, फिर भी प्रसादजी ने अन्तिम दृश्यों में उसकी विजय दिखाई है।

स्कदगुप्त की विफलता वास्तविक विफलता है। स्कंदगुप्त नाटक में प्रत्येक अंक के बाद उसकी पराजय देखते हुए हमे यह भान नहीं होता कि वह सफल होगा। यह योजना कला की दृष्टि से उत्कर्षमूलक नहीं है। यह हमें उनकी पूर्व की कृतियों में नहीं मिलता, परन्तु यह इतने प्रौढ़ नाटक में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि वे नाटक को सुखान्त बनाना चाहते थे। उन्होंने भारतीयता की रक्षा के लिये ही यह योजना की, भारतीय परपरा का त्याग वे नहीं कर सके।

प्रसादजी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उनका देश-प्रेम-संबंधी भाव, जिसे उन्होंने अतीत का आधार लेकर अंकित किया है। वे द्विजेंद्रलाल राय की भाँति मध्ययुगीन पात्रों तक ही सीमित नहीं रहे हैं। उन्होंने सुदूर अतीत के पात्रों को भी स्थान दिया है और वहाँ भी पौराणिक की अपेक्षा ऐतिहासिक युगों की घटनाओं का चयन किया है। प्रसादजी ने पौराणिक आख्यान को अधिक नहीं अपनाया। यदि वे ऐसा करते, तो वह कदाचित् अधिक प्रामाणिक भूमि पर न आ पाते। उनके नाटकों में अतीत युग की भारतीय वीरता और संस्कृति की इतिहास-संमत व्याख्याएँ और चित्र मिलते हैं।

प्रसादजी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उन युगों की सामाजिक और दार्शनिक विचारधाराओं के निर्देश करने की दर्शन को प्रसादजी ने सर्वत्र अपने साथ रखने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में भी दर्शन है। कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता उनकी नाटकीय कलात्मकता में विघ्न भी उपस्थित करती है, फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ा। उन्होंने एक ही पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' लिखा है, किन्तु उसमें भी विशेष प्रकार का दार्शनिक संघर्ष है। 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य और दाण्ड्यायन प्रसादजी के दर्शन को उपस्थित करते हैं। प्रेममूलक दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए प्रसादजी ने नारी-चरित्रों का निर्माण किया है। 'अजातशत्रु' और 'विशाख' में बौद्ध दार्शनिकता की झलक मिलती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में सामयिक समस्या अर्थात् विच्छेद की समस्या प्रस्तुत की गई है। उनके समस्त नाटकों में बौद्धिक उपक्रम और दार्शनिक अंतर्धारा व्याप्त है।

प्रसादजी ने 'कामना' नाटक में मानवीय मनोवृत्तियों को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। मनोवृत्तियों को चित्रित करने का उनका प्रयास संस्कृत के प्रबोध-चंद्रोदय नाटक के पश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण है।

प्रसादजी के नाटकों का देश-काल पर्याप्त विस्तृत है। किस युग में किन संप्रदायों का उद्भव और विकास हुआ; धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा जीवन-संबंधी अन्य परिस्थितियाँ कैसी थीं; इसका पूरा आभास उनके नाटकों में मिलता है। इतिहास के आधार पर ही तत्कालीन संस्कृति का

निर्माण होता है। इतिहास के उत्थान के युग में संस्कृति का भी उत्थान होता है और ऐतिहासिक ह्रास के युग में संस्कृति का भी अधःपतन हो जाता है। प्रसादजी ने इतिहास के संपूर्ण स्वरूप को अपनाया है और नाटकीय कला का ध्यान रखते हुए इन सभी ऐतिहासिक अगों का उल्लेख और संकेत किया है।

प्रसादजी के पात्र देश और काल की भूमि पर दृढ़ रूप से स्थापित प्रतीत होते हैं। उनकी सत्ता ऐकांतिक नहीं है। अतएव प्रसादजी के नाटक हमारी संस्कृति के अध्ययन के लिये भी उपयोगी हो गए हैं। इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसादजी के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। संस्कृति का आभास इतिहास के माध्यम द्वारा देते हुए प्रसादजी ने अपने नाटकों में एक सुन्दर सास्कृतिक धारा का निर्माण किया है जिससे भारतीय सस्कृति के प्रवाह का परिचय मिलता है। ऐसा करते हुए प्रसादजी ने समय-समय पर परिवर्तित होनेवाली परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की है; वरन् भिन्न-भिन्न नाटको में सास्कृतिक स्थितियों का यथार्थ रूप देखते हुए भी उस अंतर्धारा का लोप नहीं होने दिया है जिसे हम भारतीय संस्कृति की विकासोन्मुख धारा कह सकते हैं। प्रत्येक नाटक मे प्रसादजी ने मुख्य पात्र या नायक को उस युग की सास्कृतिक समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सास्कृतिक निर्माण की सूचना दी है। यही कारण है कि प्रसादजी के नायक आदर्शवादी हैं। वे भिन्न-भिन्न युगों की सास्कृतिक स्थिति और विकास के प्रतिनिधि स्वरूप हैं।

प्रसादजी के नाटकों को काव्यात्मकता भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। शैली और वस्तु दोनों मे प्रसादजी के नाटकों मे काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली काव्यात्मक है और पात्रों द्वारा कथित संवादों में भी काव्य की प्रमुखता है। उनमें काव्य-भावना की विशेषता है। किसी कथन को सीधे तरह और निरलकार रूप मे कहने की शैली को प्रसादजी ने नहीं अपनाया। उनके नाटकों में काव्यात्मक वातावरण की पूरी मात्रा रहती है। वर्तमान नाट्य-शैली के अनुसार नाटकों में अधिक से अधिक यथार्थवादिता आवश्यक समझी जाती है। भाषा का स्वरूप भी सामान्य बोल-चाल का आभास देनेवाला रहा करता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रक्खा, उनकी शैली में चमत्कार तथा काव्यात्मकता है।

शैली की विशेषता के साथ ही प्रसादजी के संवाद भी भावात्मक हैं, बौद्धिक नहीं; उनमें कोरी बौद्धिकता, सम्भाषणपटुता या उक्ति-वैचित्र्य नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों का माध्यम गद्य ही रक्खा है, परतु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है। पाश्चात्य नाटकों में पद्य दुःखान्त सृष्टियों के लिए उपयोगी माना गया है, परन्तु प्रसादजी ने अपने सुखान्त नाटकों में भी इसी पद्धति को अपनाया है। यह प्रसादजी की अपनी विशेषता है ।

प्रसादजी के सपूर्ण नाटक मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए हैं। उनका कामना' नाटक मनोवृत्तियों की स्वरूपगत विशेषता का उद्घाटन और चित्रण करता है। 'सतोष' और 'विवेक' ये दोनों मनोभाव विनोद और विलास के संघर्ष में प्रदर्शित किए गए हैं। प्रसादजी ने इन वृत्तियों का व्यक्तीकरण करके घटनाओं के विरोध,और सघर्ष द्वारा सतोष और विवेक नामक वृत्तियों का उत्कर्ष दिखाया है। मनोवृत्तियों पर नाटक लिखने का उनका यह प्रयास उनकी मनोवैज्ञानिक रुचि का परिचायक है।

प्रसादजी के नाटकों में चरित्र-चित्रण प्रधान होने का कारण उसके अगभूत मनोवैज्ञानिक पक्ष का सुन्दर निरूपण है। आरभिक नाटकों की अपेक्षा उनके प्रौढ़ नाटक इस विशेषता से अधिक समन्वित हैं। मानव-जीवन के विविध स्वरूपों और पक्षों,के प्रतिनिधि रूप में प्रसादजी ने अनेक पात्रों की रचना की है। उनके नाटकों में पात्रों की बहुलता के दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि ऐतिहासिक स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए अधिक पात्रों की आवश्यकता स्वाभाविक थी; और दूसरा कारण यह है कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का चित्रण करने के लिए पात्रों की बहुलता आवश्यक थी।

इन दोनों कारणों से प्रसादजी के नाटकों में वैविध्य और पूर्णता आ गई है, यद्यपि अभिनय की दृष्टि से यह बहुलता कहीं-कहीं बाधक भी बन जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में समय की अवधि बड़ी रक्खी है। उनके नाटक कई वर्षों की घटनाओं का समावेश करते हैं। इसका कारण यही है कि प्रसादजी इतिहास के चित्रणों को प्रस्तुत करना चाहते थे और साथ ही दीर्घ समय के अन्तर्गत चरित्रों की मनोवृत्ति में होनेवाले परिवर्तनों का निरूपण भी करना चाहते थे। साराश यह कि प्रसादजी के नाटकों का

समस्त स्वरूप इस आधार पर स्थित है कि उसमें देश, काल और पात्र की अनेक-विधि-रूपरेखा सरलता से चित्रित की जा सके। थोड़े-से समय और पात्रों के अन्तर्गत नाटकीय गुणों का अधिक विकास सम्भव था, पर प्रसादजी ने अपने लिए वह मार्ग नहीं अपनाया। मुख्यतः मनोवैज्ञानिक चित्रण की अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए उन्होंने पात्र-बहुल और समय-बहुल नाट्यसृष्टि की है।

विशेषतः नारी-चित्रण में प्रसादजी की क्षमता प्रकट हुई है। प्रसादजी की नाटकीय नारियों का अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने नारी की आदर्श कल्पना के अतिरिक्त उसकी आकर्षक और विकर्षक, रमणीक और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत की है। नारी के चित्रण में प्रसादजी की यह विविधता इसलिए हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करती है कि उनकी अधिकांश नारियाँ कल्पना-प्रसूत हैं, इतिहास के उल्लेखों में वे प्राप्त नहीं। अतएव वहाँ प्रसादजी की अनुभूति और कल्पना को अधिक खुला क्षेत्र मिला है। दूसरी बात यह है कि उनकी नारी पुरुषों की भाँति वर्गगत प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर नहीं आई। नारियों में वैसा वर्ग-निरूपण नहीं है, जैसे पुरुषों में कोई राजा, कोई सैनिक, कोई संन्यासी और कोई कवि आदि हैं। नारी-मनोविज्ञान और नारी-चरित्र के उद्घाटन में प्रसादजी को पुरुष-चित्रण की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(सन् १९५० ई०)

कुछ प्रमुख नाटक

विशाख

'विशाख' एक प्रेम-कथा को नाटक का स्वरूप देने का प्रयत्न है। यदि हमें यह ज्ञात न होता कि इसका कथानक प्राचीन इतिहास से लिया गया है, तो कदाचित् हम इसकी ऐतिहासिकता का ध्यान भी न कर पाते। उस समय के रहन-सहन, घटनाओं और वातावरण आदि को चित्रित करने के कारण ही नाटक ऐतिहासिक कहा जाता है, केवल नाटक के पात्रों के नाम और उनकी प्रेमचर्चा को देखकर ही नहीं। विशाख नाटक में ऐतिहासिक परिपूर्णता की कमी है। ऐसी प्रेम-कथा (जैसी विशाख में है) किसी भी युग में सम्भव थी। सामान्य प्रेम-कथा को इसमें एक प्राचीन आवरण देने का प्रयास-मात्र है। एक मात्र प्राचीन ऐतिहासिकता इसमे ब्राह्मण और बौद्ध मतों के तुलनात्मक स्वरूप के प्रदर्शन मे मिलती है। दूसरी कोई वस्तु ऐसी नहीं जिससे इतिहास का स्वरूप स्पष्ट हो सके। इसके कथानक में एक स्त्री और उसके दो प्रेमियों की कथा है, जो प्रायः सभी प्रेम-गाथाओं मे रहा करती है। ज्ञात होता है कि लेखक अभी अपनी निर्माणावस्था में है।

एक राजा और सामान्य नागरिक के बीच का द्वंद्व इसमें दिखाया गया है। राजा लोग किस प्रकार अपनी शक्ति और पद का दुरुपयोग कर किसी नारी को अपने वश में किया करते थे इसका एक सामान्य चित्र प्रस्तुत किया गया है इस नाटक में कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे प्रसादजी की मौलिक सूझ कह सकें। संघर्ष का आधार प्रेम-कथा ही है। साथ में राजकीय षड्यंत्रों की योजना की गई है, जो जासूसी प्रकार की है। इसमें प्रसादजी की किसी प्रौढ़ कल्पना का प्रवेश नहीं हो पाया। आगे चलकर प्रसादजी ने नाटकों में जो विशेषताए रक्खी हैं, वे इस नाटक मे उपलब्ध नहीं। जो वस्तु छोटी कहानी के अंतर्गत आ सकती थी, उसे नाटक के अतर्गत विस्तार देकर रखने का प्रयत्न किया गया है।

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक में एक अन्य प्रकार की त्रुटि है। इसमें महाभारत-युग

के पश्चात् आर्यों और अनार्यों के बीच चलने वाले जातिगत संघर्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके कुछ पात्र तो आर्य जाति के प्रतिनिधि हैं, कुछ अनार्य जाति के और कुछ पात्र दोनों की मिश्रित सृष्टि हैं। यह नाटक उस काल का है जिस समय आर्य और नाग जातियों का संघर्ष चल रहा था। दो जातियों के संघर्ष को चित्रित करने के लिए नाटक की अपेक्षा उपन्यास का माध्यम अधिक उपयुक्त होता, क्योंकि जातीय विशेषताओं और वैषम्यों का सम्पूर्ण विवरण उपन्यास में दिया जा सकता था।

इस नाटक में पात्रों की अधिकता हो गई है और कथानक उपन्यासों जैसा हो गया है। पूर्ववर्ती घटनाओं का आभास देने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन को ला रक्खा है। जहाँ श्रीकृष्ण आर्य-जीवन की व्याख्या अर्जुन के सामने उपस्थित करते हैं, वहाँ लम्बे-लम्बे प्रकरण हैं और दार्शनिकता भर गई है। प्रसादजी को इस नाटक में यथेष्ट सफलता नहीं मिली। कथानक बिखरा हुआ है, अलग-अलग दृश्यों में नाटकीयता है, परन्तु सम्पूर्ण नाटक में प्रभावान्विति बहुत कुछ न्यून है।

अजातशत्रु

यह प्रसादजी का प्रथम सफल नाटकीय प्रयत्न कहा जा सकता है। प्रथम प्रयत्न की महत्त्वाकांक्षा और अपरिपक्वता दोनों ही इसमें दिखाई पड़ती है। कथानक तीन स्थलों में प्रसरित है—मगध, कोशल और कौशाम्बी। तीनों स्थलों के घटना-चक्र इस नाटक में स्थान पाते हैं। तीनों में परिस्थितियाँ आगे बढ़ती हैं तथा तीनों की परिस्थितियों का एक ही व्यापार में सन्निवेश है।

अजातशत्रु में न केवल उस युग की राजनीतिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति है, वरं उस युग के दार्शनिक मतवाद का प्रभाव भी स्पष्ट है। वह गौतम बुद्ध का युग था, इस कारण इस नाटक का नायक बुद्ध के व्यक्तित्व की समता नहीं कर सका। यही नहीं, महात्मा बुद्ध की शिष्या मल्लिका का चरित्र भी अजातशत्रु से कहीं अधिक प्रभावशाली है। नाटककार उस युग की सम्पूर्ण स्थिति सम्मुख रखना चाहता है, पर नाटक के नायक को इसी कारण प्रमुखता नहीं दे पाता। नाटक में नायक का जो स्थान होना चाहिए, वह उसे नहीं मिल सका।

अजातशत्रु गौतम और मल्लिका दोनों से प्रभावित है। यद्यपि आरम्भ

में वह उनका विरोधी था, परन्तु क्रमशः उनके महत्व को स्वीकार कर उनका अनुवर्ती बन जाता है। ऐसी स्थिति में गौतम और मल्लिका प्रमुख पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं, किन्तु यह वस्तु-विन्यास-सम्बन्धी एक त्रुटि है।

प्रसादजी ने इस नाटक में आकर्षक और कौतूहलवर्धक घटनाओं को अधिक मात्रा में रक्खा है। विदूषक के हास्य रस के सचार के लिए दो-तीन दृश्यों की योजना की गई है। यह नाटक प्रसादजी की प्रयोगकालीन कृति है।

मुख्य सघर्ष तो मगध के अतर्गत ही चल रहा है। पिता और पुत्र का विरोध राजनीतिक परिवर्तन में सहायक होता है, परन्तु इस संघर्ष में पद्मावती को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार पद्मावती द्वारा संघर्ष का यह सूत्र कौशाम्बी पहुँचता है। कौशाम्बी में भी राजनीतिक परिस्थिति डँबाडोल हो रही थी, उदयन को अनेक दुरभिसंधियाँ मागंधी द्वारा की जा रही थीं। मागंधी उदयन को पद्मावती के विरुद्ध भड़काने की चेष्टा में संलग्न थी। कोशल में विरुद्धक और उसके पिता प्रसेनजित एक दूसरे के विरोधी बनकर षड्यंत्रों की सृष्टि कर रहे थे।

इस परिव्याप्त संघर्ष को एक केन्द्रीय संघर्ष में परिवर्तित करने की चेष्टा की गई है। सभी स्थलों के अलग-अलग संघर्षों के साथ मुख्य संघर्ष की योजना करने में लेखक को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। संघर्ष का विकास दिखाते-दिखाते लेखक इतना आगे बढ जाता है कि सहसा अंतिम अंक में उसे कथानक को समेटना और संघर्ष की समाप्ति कर देना कठिन हो जाता है। परिस्थितियाँ और पात्र जब स्वाभाविक विकास में आगे बढ़ते हैं, तब उनको सम्हालना और दूसरी दिशाओं में मोड़ना उसके लिए असम्भव-सा हो जाता है। फलतः नाटक का तीसरा अंक अस्वाभाविक रूप से समाप्त होने के लिए बाध्य हुआ है। यदि प्रसादजी ने इस नाटक को चार अंकों में समाप्त किया होता, तो सम्भवत. उठाए हुए संघर्ष की स्वाभाविक समाप्ति हो सकती।

इस नाटक मे-प्रत्येक मुख्य पात्र का दूसरा विरोधी पात्र उपस्थित है, जैसे गौतम का देवदत्त, बंधुल का विरुद्धक, बिम्बसार और वासवी : छलना और अजातशत्रु ! केवल मागधी और मल्लिका स्वतंत्र पात्र के रूप में आई हैं। चारित्रिक दृष्टि से मागंधी एक विलक्षण नारी है। कथानक में उसका चरित्र विलक्षणता की सृष्टि करता है। मल्लिका का चरित्र नाटक की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक की सभी घटनाओं के

परिवर्तन का केन्द्र वही है। इसका कोई विरोधी पात्र नहीं है। मुख्य पात्रों के विरोधी पात्र रखने की पद्धति नाटक के विकास की आरम्भिक पद्धति है; ऐसा ज्ञात होता है कि कथानक में संघर्ष लाने के लिए इन विरोधी पात्रों की रचना की गई है। मल्लिका और मागंधी के चरित्र ही इसके अपवाद हैं।

इस नाटक में वैषम्य या संघर्ष का पल्ला भारी है और संतुलन की कमी है। यह समस्त वैषम्य बिखरा हुआ है। प्रत्येक स्थान में एक वैषम्य की योजना की गई है। वैषम्य का तत्व एक मुख्य व्यापार को लेकर नहीं है। यह नाटक की अपरिपक्वता का प्रमाण है। विरोध का समाहार इन नाटक में ठीक-ठीक नहीं हो सका।

नाटक में कई अनावश्यक दृश्यों को भी स्थान मिला है। विदूषक आदि के दृश्य ऐसे ही हैं। सूच्य अंशों को दृश्य रूप में रखने की त्रुटि भी रह गई है। नायक को प्रमुख रूप से सामने नहीं लाया जा सका। नाटककार ने अजातशत्रु को नायक बनाकर उसके नायकत्व का निर्वाह नहीं किया। मल्लिका और गौतम की समकक्षता पर अजातशत्रु का चरित्र-विकास नहीं दिखाया गया है। हास्य रस की योजना प्रभावशालिनी नहीं है।

नाटक का अंतिम अंक हल्की और छिछली भावात्मकता से भर गया है। चरित्र-चित्रण का लोप-सा हो गया है। तीसरे अंक में लेखक अत्यधिक भावुक बन गया है। उसे किसी तरह नाटक में आरंभ किए संघर्षों को समाप्त करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरित्र-विकास की स्वाभाविक शृंखला को नाटककार इस अंक में भूल बैठा है।

प्रसादजी ने इस नाटक में रस की योजना को इतना महत्व नहीं दिया जितना भारतीय नाटककार दिया करते हैं। चरित्र-चित्रण और परिस्थितियाँ नाटककार का ध्यान अधिक आकर्षित करती हैं। केवल रस की विशेषता रखनेवाले नाटकों में स्थिति और कार्य की वास्तविकता का आभास कठिनाई से मिल पाता है। प्रसादजी के पूर्व हिन्दी नाटकों का अधिकतर लक्ष्य किसी रस-विशेष की अवतारणा करना रहता था। आदि से अन्त तक एक ही रस के विभाव अनुभाव आदि रहते थे। परिस्थितियाँ और जीवन-दशाओं का बाहुल्य और उनकी वास्तविकता का चित्रण करनेवाला नाटककार भाव-चरित्र और मनोविज्ञान की प्रमुखता

देकर केवल किसी भाव-विशेष की सृष्टि के लिए संपूर्ण प्रसंग का उपयोग नहीं करेगा।

प्रायः रस को प्रधानता देनेवाले नाटककार चरित्र का ध्यान नहीं रखते, किंतु प्रसादजी ने पात्रों और परिस्थितियों की बहुलता को स्थान दिया है। प्रसादजी के इस नाटक में अनेक रसों का सम्मिश्रण इसी कारण हुआ है। वीर, शांत, हास्य आदि अनेक रसों की योजना बहुमुखी वस्तु-निर्देश और चरित्र-चित्रण की प्रमुखता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्कंदगुप्त

यह मानते हुए भी कि स्कंदगुप्त का वस्तु-विन्यास आदर्श वस्तु-रचना का उदाहरण नहीं है, और प्रारम्भिक तीन और अंतिम अंकों की धारा समन्वित नहीं हो पाई है, यह कहना होगा कि इस नाटक की कला-क्षमता उनके अन्य नाटकों की अपेक्षा ऊँची है। प्रसादजी ने इसमें कथानक की ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं का योग पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन-घटनाओं से करना चाहा है। इसीलिये नाटक के कथानक में इन दोनों घटना-समूहों का पारस्परिक संघात मिलता है। सभी पात्रों का एक पक्ष भारतीय राजनीति के परिवर्तन मे देखा जाता है और दूसरा व्यक्तिगत पार्श्वभूमि पर। एक तरह से सारा वस्तु-विन्यास दो स्तरों पर चलता है जिससे नाटक में अधिक स्वाभाविकता आई है। प्रसादजी ने कदाचित् यह पहली बार समझा कि कोरी राजनीतिक या ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नाटक मे मानवीय मनोभावना की स्वाभाविकता नहीं आ सकेगी; इसीलिए स्कंदगुप्त में पात्रों के सामाजिक जीवन-चित्रण के साथ उनकी वैयक्तिक रुचि और सत्ता को प्रदर्शित किया है। स्कंदगुप्त के वस्तु-विन्यास की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे कार्य या व्यापार का तत्व सम्यक् वेग से आगे बढ़ता है। इस विशेषता द्वारा आदि से अन्त तक एक आकर्षण की सृष्टि और निर्वाह हुआ है। कथानक के भीतर अनेक चरित्रों की स्थापना हुई है और वह स्थापना केवल ऐसी नहीं है जो कवि द्वारा ऐतिहासिकता की पूर्ति करने के लिए लाकर रखी गई हो। नाटकीय चरित्र-चित्रण घटनाओं की स्वाभाविक गति के अंतर्गत हुआ है, केवल संवादों या पात्रों की भरती के लिए नहीं।

यद्यपि स्कन्दगुप्त के कथानक में भी दो विरोधी घटना-चक्र काम मे लाए

गए हैं, पर वे घटना-चक्र ऐसे स्थूल रूप में नहीं आए, जैसे 'अजातशत्रु' में यहाँ पर वर्गगत चरित्रों के साथ-साथ व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी अधिक व्यापक रूप में आई है। भटार्क, शर्वनाग, प्रपंचबुद्धि जैसे खल चरित्रों में भी मनोवैज्ञानिक अतर अच्छे ढग से उपस्थित किया गया है। चरित्र-चित्रण में पूर्ण नाटकीय विस्तार और व्यापकता लाई गई है, काश्मीर से लेकर लंका तक के पात्र इसमें हैं। कवि, सेनापति, धार्मिक चरित्र तथा नारियों की भिन्न प्रवृत्तियों के चित्रण में चरित्रों की विविधता का पूरा प्रवेश है। कुछ पात्र अतिरिक्त पात्र कहे जा सकते हैं, जिनके छोड़ने से नाटक की विशेषता में कदाचित् अधिक अन्तर नहीं आता। प्रख्यातकीर्ति, गोविन्दगुप्त तथा मुद्गल को आसानी से छोड़ा जा सकता था। मुद्गल नाटक के कथानक के विकास में अपरिहार्य पात्र नहीं है। यदि हास्य लाने के लिए पात्रों की अलग से योजना की जाय, तो कहना पड़ता है कि यह कला की दृष्टि से सुसंगत नहीं है। ब्राह्मणों तथा बौद्धों का झगड़ा नाटक के लिए अधिक आवश्यक नहीं है। प्रख्यातकीर्ति नाटक के कथानक का अभिन्न अंग नहीं है। पहले दो अंकों में घटना-क्रम इतने सुलझे रूप में आगे बढ़ा है कि अतिम अंकों की शिथिलता खटकने लगती है। दो अकों में व्यापार का यथेष्ट विकास हो जाता है। तीसरे अंक में भी घटनाओं का प्रभाव बना रहता है। परन्तु चौथे और पाँचवें अंकों में नाटक के उदात्त रूप को बनाए रखने में नाटक की कथा पूर्णतः समर्थ नहीं है। चौथा और पाँचवाँ अंक तो घटनाओं और पात्रों को अतिम विजय की ओर ले जाने का साधन मात्र है। इतिहास की सत्यता नाटकीय परिपाक का स्थान नहीं ले सकी।

स्कन्दगुप्त में भी ऐतिहासिक सत्य को अधिक प्रमुखता दी गई है जिससे नाटक का कला-पक्ष उतना प्रभावशाली नहीं बन पाया। 'स्कन्दगुप्त' मे चरित्र-चित्रण का आधार विरोध है, पर स्थूल विरोध नहीं। पुरगुप्त और स्कन्दगुप्त एक दूसरे के अकारण विरोधी नहीं हैं। उनके विरोध में चरित्रगत मौलिक विषमता कारण है। उनका विरोध सजीव विरोध है। अनंत देवी के चरित्र को इस नाटक के नारियों के चरित्र में एक विशेष चरित्र माना जा सकता है। विजया तथा देवसेना के चरित्रों में भी विरोध है। परन्तु परिस्थितियों को इस प्रकार रखा गया है कि इन दोनों का विरोध नाटक

में आद्यंत आकर्षक बना रहा है। विजया और देवसेना दोनों के चरित्रों में अलग-अलग आकर्षण है। स्कंदगुप्त जैसा पात्र इन दोनों की ओर स्वल्प या अधिक मात्रा में झुका रहता है और दोनों के बीच चुनाव करने में उसे देर लगती है। यह इस बात की सूचना देता है कि नाटककार के चरित्र-चित्रण में मानव स्वभाव का स्वाभाविक और कलात्मक प्रदर्शन हुआ है। देवसेना तथा विजया के चारित्रिक संघर्ष को दिखाने में नाटककार विशेष सफल हुआ है। इन दोनों पात्रों को भला और बुरा कहकर दो बँधी-बँधाई कोटियों में नहीं रक्खा जा सकता।

पाश्चात्य नाटकों का वस्तुविन्यास विरोध के आधार पर होता है। विरोध मध्य में चरम सीमा पर पहुँचता है और अंत में उसकी परिसमाप्ति होती है। दुःखात नाटक का आरम्भ विरोध से हुआ करता है और अन्त दुःख में होता है। विरोध का चरम सीमा पर पहुँच जाना कथानक की परिसमाप्ति का सूचक नहीं होता, वह दु.खात घटना की ओर मोड़ लेने का परिचायक होता है। इस स्वाभाविकता का पालन दु खात नाटक में ही किया जा सकता है।

भारतीय नाटकों में इस प्रकार का क्रम नहीं रखा गया, क्योंकि वे सुखान्त होते हैं और फलप्राप्ति के लिए उद्योग आरम्भ से होता है। उद्योग का विकास प्राप्त्याशा की ओर से फल की ओर जाता है। सुखान्त नाटक की यही पद्धति है। स्कदगुप्त नाटक को परिणाम मे सुखात बनाया गया है, पर उसका वस्तु-विन्यास दुःखात नाटक की पद्धति पर रचा गया है। यह वस्तु विन्यास-सम्बन्धी त्रुटि स्कदगुप्त में स्वीकार करनी पड़ती है।

चंद्रगुप्त

जहाँ तक चरित्रों के निर्माण तथा नाटकोपयोगी विशेषताओं का प्रश्न है, वहाँ तक स्कन्दगुप्त अधिक सुन्दर कहा जा सकता है। स्कन्दगुप्त में घटनाओं के बीच में संघर्ष की भावना अधिक प्रबल है और ऐसी स्थितियों की योजना की गई है जो अधिक नाटकीय हैं। स्कंदगुप्त को श्रेष्ठता प्रदान करनेवाली दूसरी वस्तु है चरित्र-चित्रण का व्यक्तिगत पक्ष तथा उसका उत्थान-पतन। घटनाओं का भी उसमें पर्याप्त उत्थान-पतन

दिखाया गया है। विरोध का तत्व स्कन्दगुप्त में अधिक प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है।

इसके विपरीत चन्द्रगुप्त नाटक में, चाणक्य के महाकाव्योचित व्यक्तित्व के कारण विरोध-पक्ष बहुत कुछ दुर्बल हो गया है। नाटक तथा महाकाव्य में स्वाभाविक अंतर होता है। नाटक में उत्थान-पतन को अधिक स्थान मिलता है। तभी उसकी नाटकीयता प्रस्फुटित होती है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्य अधिक है, नाटक का सघर्ष कम। उसके नायक चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से ऊपर उठे हुए हैं जिससे संघर्ष का पूरा विकास नहीं हो पाया है। अलक्षेन्द्र की रणनीति और वीरता भी इस नाटक में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं हो पाई है।

इस नाटक का कथानक वर्षों का समय ले लेता है। यह भी महाकाव्य के अनुकूल वस्तु-विन्यास कहा जा सकता है। वीर रस प्रधान नाटकत्व 'चन्द्रगुप्त' में उपस्थित हुआ है। इसमें स्थितियों का वास्तविक वैषम्य नहीं है। ऐसी घटनाएँ नहीं हैं जो हमारी दृष्टि को निर्णय के सम्बन्ध में उलझाए रखें। 'स्कंदगुप्त' में यह विशेषता पूरी मात्रा में आई है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चरित्रगत वैविध्य नहीं है, जैसा कि स्कदगुप्त में है। स्कंदगुप्त में एक दार्शनिकता मिश्रित वीरत्व पाया जाता है जो अधिक नाटकीय है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में वीरत्व और कोरा वीरत्व है। उसमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक और नाटकीय अभिसधि के लिये स्थान नहीं है। चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना स्कंदगुप्त की अपेक्षा अधिक शिथिल है। चन्द्रगुप्त में काल-संकलन का अभाव खटकता है। 'चन्द्रगुप्त' का सा प्रत्येक अंक में नया वस्तु-विन्यास 'स्कंदगुप्त' में नहीं है। वहाँ घटनाएँ लक्ष्य की ओर समगति से आगे बढ़ती हैं। वस्तु का समुचित विभाग और संधियों की योजना 'स्कंदगुप्त' में अधिक स्पष्ट रूप में हुई है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में नायिका का प्रश्न भी जटिल रह गया है। कार्नेलिया नाटक के आरम्भ में आकर अंत में बस एक बार अपने दर्शन देती है। नायिका को नाटक में जो प्रमुखता मिलनी चाहिए, वह उसे नहीं मिल पाई। चन्द्रगुप्त में प्रमुखता अलका की है। नायिका की जो क्रमानुगत परिभाषा है, उसके अनुसार कार्नेलिया को नायिका मानना पड़ेगा।

कल्याणी समस्त नाटक में पर्याप्त दूरी तक नाटक की सम्भावित नायिका बनने का उपक्रम करती हुई दिखाई देती है, किन्तु न जाने क्यों वह सहसा आत्महत्या कर लेती है। कल्याणी के चरित्र-चित्रण के आधार पर उसकी आत्महत्या अस्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह केवल कार्नेलिया के नायिका पद को स्थापित करने का प्रयास है। कल्याणी और कार्नेलिया के चरित्रों में एक ही चरित्र को दो भागों में विभाजित करने का सा कृत्रिम प्रयत्न किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार के सम्मुख स्वयं एक समस्या थी, जिसका निर्णय वह संतोषजनक रीति से नहीं कर पाया।

चाणक्य के जीवन में उसकी अतिमानवीय बौद्धिकता के साथ उसकी प्रेमवृत्ति को प्रदर्शित करने का प्रयोग भी किया गया है। इन विरोधी प्रकृतियों के बीच स्वाभाविक और कलात्मक सामंजस्य पूरी तरह स्थापित नहीं हो पाया। राक्षस का चरित्र भी 'मुद्रा राक्षस' के राक्षस की समकक्षता पर चित्रित नहीं हुआ है। अलक्षेन्द्र, नन्द या राक्षस इन तीनों के बीच प्रतिनायकत्व किसको दिया जाय, यह प्रश्न भी अनिश्चित-सा है। यदि अलक्षेन्द्र को प्रतिनायक माना जाय, तो वह तीसरे अंक के अन्त में प्रयाण कर जाता है। नन्द केवल चतुर्थ अंक तक रहता है। नाटक के अन्त तक वह भी नहीं चलता। कदाचित् इसी समस्या को सुलझाने के लिये प्रसादजी ने अलक्षेन्द्र के प्रतिनिधि सिल्यूकस द्वारा अलक्षेन्द्र की स्मृति जाग्रत रखने की चेष्टा की है। राक्षस का विरोधी चरित्र उतनी प्रमुखता पर नहीं आ पाया है कि उसे नाटक का प्रतिनायक कहा जा सके। नन्द की भी यही स्थिति है और अलक्षेन्द्र भी प्रतिनायक की परिभाषा पूरी नहीं करता। वास्तव में 'चन्द्रगुप्त' चरित्र-प्रधान नहीं काव्योपजीवी नाटक है। उसमें भावप्रवणता का पक्ष मुख्य है। उसमें स्कंदगुप्त की भाँति अनेक चरित्रों, परिस्थितियों और अनेक रसों का योग नहीं है। चन्द्रगुप्त में वीर रस का आद्यंत प्रवाह है। 'स्कदगुप्त' में पराजय और करुणा का वातावरण दूर तक व्याप्त है। चन्द्रगुप्त में ऐसा नहीं है। विजया, देवसेना, जयमाला के आने से स्कन्दगुप्त में शृंगार रस का अच्छा वातावरण तैयार हुआ है। चन्द्रगुप्त नाटक में अलका का सम्बन्ध नाटक के नायक से नहीं, उपनायक से है और चन्द्रगुप्त के नाटकीय जीवन में ऐसे अवसर कम हैं जिनमें वह शृंगारिक भावना का

आलम्बन बनकर आया हो। अलका भी आदि से अंत तक वीर नारी के रूप में ही चित्रित हुई है।

सुवासिनी के आने से चन्द्रगुप्त नाटक में शृंगार रस की सृष्टि हुई है, पर यह रस नाटक की मुख्य भूमि पर नहीं आया है। स्कंदगुप्त में शृंगार, वीर, करुण रस नाटक की मुख्य भूमि पर आ जाते हैं।

किसी भी अच्छे नाटक के लिए यह दोष ही है कि नायिका की स्थिति सुव्यवस्थित न होने पाए। नाटक के पूरे प्रवाह में प्रमुख पात्रों का संस्थान होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो किसी पात्र की सापेक्षिक प्रमुखता में संदेह हो जाता है। प्रकरी और पताका के अन्तर्गत प्रासंगिक कथाएँ आ सकती हैं, पर मुख्य कथा आदि से अन्त तक बनी रहनी चाहिए। यदि मुख्य पात्र 'प्रकरी' और 'पताका' अंशों में लाकर वहीं समाप्त कर दिये जायँ तो वह नाट्य-वस्तु की त्रुटि ही कही जायगी।

'चन्द्रगुप्त' के चार अंकों में प्रत्येक अंक एक ही स्थान पर केन्द्रित हो गया है। एक अंक को एक स्थान पर केंद्रित करने की पद्धति के कारण कुछ पात्रों की उद्भावना उसी अंक में होती है और अन्त भी उसी अंक में होता जाता है। नाटक-संविधान में यह व्यवस्था त्रुटिरहित नहीं कही जा सकती।

प्रसादजी अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास पर पूर्ण अनुशासन नहीं कर पाए हैं। यह त्रुटि कवि-नाटककार प्रसाद के लिए अधिक आश्चर्यजनक नहीं। वस्तु संघटन का कार्य प्रसाद की मुख्य विशेषताओं में नहीं आता। प्रसाद का वस्तु-विन्यास पूर्णतः कलात्मक और निर्दोष नहीं बन पाया।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी को प्रसादजी ने नए प्रयोग के रूप में लिखा है। यह उनकी सामान्य नाट्य-कला का अन्तिम विकास नहीं है। उनके नाटकों की मुख्य विशेषता चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में आकर अपनी सीमा पर पहुँच गई है।

ध्रुवस्वामिनी नवीन शैली का प्रयोग है। प्रसादजी पर आरोप किया जा रहा था कि उनके नाटक काव्य-रूपक हैं। उनके संवादों में कृत्रिमता का आरोप किया जाता था। यह कहा जाता था कि उनके संवादों में चमत्कार,

वाग्वैदग्ध्य और जवाब-सवाल की कमी है। यथार्थवादी लोगों ने इसे अवगुण माना है। यद्यपि प्रसादजी ने अपनी शैली का निर्माण कर लिया था, परन्तु वे नवीन सृष्टि की योजना से विमुख नहीं थे। ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने यथार्थवादी सम्वाद, रंगमंच और प्रणाली अपनाई है। कथोपकथन स्वाभाविकता के अधिक समीप हैं। इसमें पाश्चात्य रीति से चमत्कार-प्रधान रचना का उपक्रम किया गया है।

आज के नए नाटकों में समस्या की प्रमुखता रहती है। ये नाटक प्रधानतः बुद्धि-प्रधान होते हैं। समस्त उपक्रम किसी एक समस्या का सर्वांग चित्रण करने का रहा करता है। बर्नार्ड शा के अनेक नाटक किसी एक समस्या को लेकर चलते हैं। यही वस्तु हमें ध्रुवस्वामिनी में प्रेरणा के रूप में दिखाई देती है। परन्तु ध्रुवस्वामिनी का स्वरूप समस्या-नाटक के स्वरूप से भी भिन्न है।

वास्तविक समस्या-नाटक में केवल एक घटना द्वारा समस्या का चित्रण नहीं किया जाता। प्रसाद के ध्रुवस्वामिनी नाटक में समस्या है अवश्य, किन्तु वह नाटक समस्या-नाटक नहीं है। समस्या-नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचार-धारा किसी एक समस्या को केन्द्र बनाकर चलती है। समस्या-नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक कलाकार हुआ करता है। प्रसादजी विचारक कलाकार के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं। प्रत्येक बड़ा लेखक अपनी स्वतंत्र शैली बनाता है। वह क्रमशः प्रौढ़ होती है और प्रौढ़तम रचना उसकी प्रतिनिधि रचना कही जाती है। ध्रुवस्वामिनी में प्रसादजी ने एक नया प्रयोग किया है। वह उनकी अन्तिम रचना है, परन्तु उनकी श्रेष्ठतम कृति नहीं।

(सन् १९५० ई०)